नियमसार अनुशीलन

भाग–१

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्

श्रीमती हिनाबेन एवं उनके सुपुत्र
हीराज शाह, कोलम्बस (यू.एस.ए.)
एवं
श्रीमती मीना–अरुण दोशी, मुम्बई
की ओर से स्वाध्यायार्थ सादर सप्रेम भेंट

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट

ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२ ०१५

फोन : ०१४१–२७०७४५८, २७०५५८१

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण हिन्दी : ५ हजार

(१४ नवम्बर २००९ ई.)

वीतराग–विज्ञान (हिन्दी–मराठी) के सम्पादकीयों के रूप में : ९ हजार

कुल : **१४ हजार**

मूल्य : **२५ रुपये**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए–४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

क्षयोपशम बहुत है

पण्डित हुकमचन्द के बारे में तो हमने कहा था कि उसका क्षयोपशम बहुत है, बहुत है। वर्तमान तत्त्व की प्रभावना में उसका बड़ा हाथ है, स्वभाव का भी सरल है। अच्छा मिल गया, टोडरमल स्मारक को बहुत अच्छा मिल गया। गोदीका के भाग्य से मिल गया। गोदीका पुण्यशाली है न, सो मिल गया। तत्त्व की बारीक से बारीक बात पकड़ लेता है, पण्डित हुकमचन्द बहुत ही अच्छा है।

ह्न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

समयसार का शिखर पुरुष

समयसार वाचना में आपके समयसार व्याख्यान सुनकर हृदय बहुत ही गद्गद् हो गया और उससे बहुत धर्मलाभ भी प्राप्त हुआ। मुझे तो ऐसा लगता है कि जैनदर्शन का मर्म **'समयसार'** में भरा है और **'समयसार'** का व्याख्याता आज आपसे बढकर दूसरा नहीं है।

आपको इसका बहुत गूढ–गम्भीर ज्ञान भी है और उसके प्रतिपादन की सुन्दर शैली भी आपके पास है।

यदि आपको **'समयसार का शिखर पुरुष'** भी आज की तिथि में घोषित किया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

आज के समय में जब एक–दो बच्चों को भी पालना (संस्कारित करना) बहुत कठिन है, आपने सैकड़ों बालकों को जैनदर्शन का विद्वान बनाकर समाज की महती सेवा की है, **जो इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखी जाती रहेगी।**

आप चिरायु हों, स्वस्थ रहें और जैनधर्म की महान प्रभावना करते रहें तथा सम्पूर्ण समाज भी एकजुट होकर आपके प्रवचनों को बड़ी सद्भावना से सुनकर लाभान्वित होती रहे ह्न यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। आशीर्वाद। **ह्न आचार्य विद्यानंद मुनि**

नियमसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणमय भाव जो।
शिवमग के आधार जिनागम में कहे।।
करने के हैं योग्य नियम से कार्य वे।
नियमसार के एकमात्र प्रतिपाद्य वे।।1।।

पद्रव्यों से भिन्न ज्ञानमय आतमा।
रागादिक से भिन्न ज्ञानमय आतमा।।
पर्यायों से पार ज्ञानमय आतमा।
भेदभाव से भिन्न सहज परमातमा।।2।।

यह कारण परमातम इसके ज्ञान से।
इसमें अपनेपन से इसके ध्यान से।।
बने कार्य परमातम हैं जो वे सभी।
सिद्धशिला में थित अनंत अक्षय सुखी।।3।।

उन्हें नमन कर उनसा बनने के लिये।
अज अनंत अविनाशी अक्षय भाव में।।
अपनापन कर थापित उसमें ही रमूँ।
रत्नत्रयमय साम्यभाव धारण करूँ।।4।।

एकमात्र श्रद्धेय ध्येय निज आतमा।
एकमात्र है परमज्ञेय निज आतमा।।
ज्ञान-ध्यान-श्रद्धान इसी का धर्म है।
शिवसुख कारण यही धर्म का मर्म है।।5।।

भव्यजनों का मानस इसके पाठ से।
परभावों में अपनेपन से मुक्त हो।।
अपने में आ जाय यही है भावना।
मेरा मन भी नित्य इसी में रत रहे।।6।।

पृष्ठभूमि

परम-अध्यात्म के प्रतिपादक इस नियमसार नामक महाशास्त्र की रचना दिगम्बर जिन परम्परा के सर्वश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं के आम्नाय (पाठ) नामक स्वाध्याय के लिए की थी; वे प्रतिदिन इसका पाठ किया करते होंगे; इस बात के संकेत उनके निम्नांकित कथन से प्राप्त होते हैं ह्न

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं।।[१]

(हरिगीत)

सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश सुन जिनदेव का।
निज भावना के निमित्त से मैंने किया इस ग्रन्थ को।।

पूर्वापर दोष रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना के निमित्त से इस शास्त्र की रचना की है।

उक्त छन्द में **'णियभावणाणिमित्तं'** पद इस कृति की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

इस अनुपम कृति में जहाँ एक ओर परमवीतरागी विरक्त संत की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है और इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावना प्रधान है।

इस कृति की संस्कृत भाषा में लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका के कर्ता **मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव** भी अन्तरोन्मुखी वृत्ति के धनी, वैराग्यरस से सराबोर भावना प्रधान सन्त थे।

वे इस नियमसार नामक परमागम को भागवत शास्त्र कहते हैं और इसके अध्ययन का फल शाश्वत सुख की प्राप्ति बताते हैं।[२]

१. नियमसार गाथा १८७
२. नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार तथा टीका और टीकाकार के संबंध में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''परमपारिणामिकभाव को प्रकाशित करनेवाला श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये हैं, वैसा ही स्वसंवेदन वे स्वयं कर रहे थे। परमपारिणामिकभाव के अन्तर्अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है। इस शास्त्र में, इसके प्रत्येक अक्षर-अक्षर में शाश्वत, टंकोत्कीर्ण, परमसत्य, निरपेक्ष, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष, सहज-ज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभव-गम्य अत्यंतात्यंत सूक्ष्म और गहन बात को स्पष्ट किया है।

सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी इन विषयों का इतने स्पष्टरूप से निरूपण नहीं है। अहो ! जिसप्रकार कोई पराक्रमी कहा जानेवाला पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाता है; उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महामुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अन्तर का अमृत दुहा है।

सर्वसंग परित्यागी निर्ग्रन्थों ने वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों से बातें की हैं और अनन्त सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।[१]''

इस ग्रंथ की तात्पर्यवृत्ति टीका आरंभ करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव मंगलाचरण के रूप में ७ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम्।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा।।१।।

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम, पृष्ठ ९८

(हरिगीत)

जो मोह में मेरे सदृश हैं मुग्ध वश में काम के।
आपके होते हुए सुगतादि को मैं क्यों नमूँ?
वागीश गिरधर शिव सुगत कुछ भी कहो या न कहो।
जितभवी जिनवरदेव जो उनके चरण में मैं नमूँ।।१।।

हे परमात्मन् ! आपके होते हुए मुझ जैसे मोह में मुग्ध कामविकार के वशीभूत बुद्ध और केशवादि को मैं कैसे पूज सकता हूँ?

जिन्होंने भव (चतुर्गतिरूप संसार परिभ्रमण) को जीता है; उन प्रकाशमान परमात्मा को चाहे श्रीजिन कहो, सुगत कहो, अगधर अर्थात् गिरिधर कहो, वागीश्वर कहो या शिव कहो; मैं तो उनकी ही वन्दना करता हूँ।

यद्यपि सुगत बुद्ध को, गिरधर श्रीकृष्ण को, वागीश्वर ब्रह्माजी या वाणी के अधिपति बृहस्पति को और शिव शंकर को कहा जाता है; तथापि यहाँ उक्त शब्दों का प्रयोग जैन मान्यतानुसार श्रीजिनेन्द्रभगवान के विशेषणों के रूप में किया गया है।

- सुगत अर्थात् मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से शोभायमान और केवलज्ञानी होने से सम्पूर्णता को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान।
- गिरिधर अर्थात् अनन्तवीर्य के धनी जिनेन्द्र भगवान।
- वागीश्वर अर्थात् दिव्यध्वनि के प्रकाशन में समर्थ जिनेन्द्र भगवान।
- शिव अर्थात् कल्याणस्वरूप मुक्त दशा को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान।

इसप्रकार यहाँ उक्त शब्दों को जिनेन्द्र भगवान का विशेषण बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

जिनेन्द्र भगवान के लिए **'जितभव'** विशेषण का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय के मंगलाचरण में स्वयं किया है।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव यह कहना चाहते हैं कि जैनेतर दर्शनों में परमात्मा के लिए जिन शब्दों या नामों का प्रयोग किया जाता रहा है; हमें उन नामों से कोई विरोध नहीं है।

यदि उक्त नामों का प्रयोग ऊपर कहे गये अर्थों में किया जाय तो

हमें उनकी वन्दना करने में भी कोई हिचक नहीं है। नाम कुछ भी हो, पर उन नामों का प्रयोग वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के अर्थ में होना चाहिए; क्योंकि हम तो वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा के पुजारी हैं।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा लिखित **मेरी भावना** के प्रथम छन्द में भी इस छन्द के भावों का अनुसरण किया गया है।

मेरी भावना का उक्त छन्द इसप्रकार है ह्न

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निष्पृह हो उपदेश दिया।।
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित होकर चित्त उसी में लीन रहो।।

मंगलाचरण में सबसे पहले सच्चे देव को नमस्कार करते हुए किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके सामान्य रूप से वीतरागी-सर्वज्ञ जिनदेवों को नमस्कार किया गया है।

उक्त छन्द के भाव को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''मोहमुग्ध और कामवश कहकर मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र को इंगित किया है। जो राग और निमित्त को भला कहते हैं और चैतन्य की पूर्णता की प्रतीति करते नहीं; वे सब भले ही देव कहे जाते हों तो भी वे मोहमुग्ध और कामवश हैं, पूज्य नहीं।[१]

हे नाथ ! भव तो एक समय जितना ही विकृतभाव था और ध्रुव-स्वभाव का भान करके आपने उस भव के बीज का नाश किया तथा भव के अभाव का भाव प्रगट किया; अत: आप ही हमारे पूज्य हो।[२]

बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा और महेश ह्न इन चारों के समक्ष भगवान् को सुगत, गिरधर, वागीश्वर और शिव की उपमा दी गई है। महेश को (शंकर को) शिव कहा जाता है। श्री जिन भगवान् कल्याणस्वरूप होने से यहाँ उन्हें शिव कहा गया है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ३

हे कल्याणस्वरूप भगवान ! आपका आत्मा भवरहित हो गया है; अत: आप ही शिव हैं। हे नाथ ! आप ही पूर्ण हो और आपकी ही वाणी में परिपूर्ण कहने की शक्ति है। आपके अलावा जो जगत् के बुद्धादि हैं, वे तो मोहमुग्ध और कामवश हैं; अत: पूज्य नहीं हैं। आप सर्वज्ञ परमात्मपद को प्राप्त और भवजित हो, इसलिए आप ही पूज्य हो।[१]''

इसप्रकार मंगलाचरण के इस छन्द में उन जितभवी वीतरागी-सर्वज्ञ जिनदेव की वन्दना की गई है; जो मिथ्यादर्शन के अभाव से मोह में मुग्ध नहीं है और मिथ्याचारित्र के अभाव से काम के वश में नहीं हैं।।१।।

इसप्रकार वीतरागी-सर्वज्ञ जिनदेव की वन्दना करने के उपरान्त अब इस दूसरे छन्द में स्याद्वादमयी जिनवाणी की वन्दना करते हैं ह्न

(अनुष्टुप्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम्।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम्।।२।।

(दोहा)

श्री जिनवर का मुखकमल जिसका वाहन दिव्य।
उभयनयों से वाच्य जो वह ध्वनि परम पवित्र।।२।।

मौन सेवन करनेवाले और वाणी के संयमी मुनिराजों के इन्द्र जिनवर देवों का मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से ही सबकुछ कहने की है पद्धति जिसकी; उस स्याद्वादमयी जिनवाणी की मैं वन्दना करता हूँ।

उक्त छन्द में समागत **'वाचंयमी'** पद का अर्थ मुनि अथवा मौन सेवन करनेवाले अथवा वाणी के संयमी होता है। इस पद का प्रयोग यहाँ मुनिराजों के विशेषण के रूप में हुआ है। तात्पर्य यह है कि **जिनवरदेव मौन सेवन करनेवाले वाणी के संयमी मुनिराजों के भी इन्द्र हैं।**

इसप्रकार इस छन्द का सीधा-सादा अर्थ यह हुआ कि मैं जिनवरदेव की स्याद्वादमयी द्विनयाश्रित वाणी को नमस्कार करता हूँ।।२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५

प्रथम छन्द में जिनदेव को नमस्कार किया गया था, दूसरे छन्द में जिनवाणी की वन्दना की गई है और अब तीसरे छन्द में गुरुओं को स्मरण किया जा रहा है।

ध्यान रहे देव को नमस्कार करते समय व्यक्ति विशेष का उल्लेख न कर सामान्य रूप से जिनवरदेव को नमस्कार किया गया है। मात्र इतना ही नहीं; 'पर नाम में क्या रखा है, गुण होना चाहिए; क्योंकि पूजनीय तो गुण हैं, नाम नहीं' ह्न यह संकेत भी दिया गया है; किन्तु **गुरुओं को नमस्कार करते समय नामोल्लेखपूर्वक नमस्कार किया है; गुरुओं के सामान्य गुणों की चर्चा तक नहीं की गई है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि टीकाकार मुनिराज अपने साक्षात् गुरु वीरनन्दि का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करना चाहते थे।**

गुरुओं को नमस्कार करने संबंधी मंगलाचरण का वह तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्।।३।।

(हरिगीत)

सिद्धान्तलक्ष्मी के पती श्री सिद्धसेन यतीन्द्र को।
तर्काम्बुजों के सूर्य श्री अकलंकदेव मुनीन्द्र को।।
शब्दसागर चन्द्रमा श्री पूज्यपाद यतीन्द्र को।
वन्दन करूँ कर जोड़कर श्री वीरनन्दि व्रतीन्द्र को।।३।।

श्रेष्ठ सिद्धान्तरूपी लक्ष्मी के पति मुनिराज सिद्धसेन, तर्करूपी कमल को प्रस्फुटित करनेवाले सूर्य भट्टाकलंकदेव, शब्दशास्त्ररूपी समुद्र को वृद्धिंगत करनेवाले चन्द्रमा पूज्यपाद देवनंदी और सिद्धान्त, तर्क और व्याकरण ह्न इन तीनों विद्याओं से समृद्ध मेरे साक्षात् गुरु श्री वीरनंदी मुनिराज की मैं वन्दना करता हूँ।

इस छन्द के भाव को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी लिखते हैं ह्न

''उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र महानिर्ग्रन्थ दिगम्बर सन्त थे। सिद्धसेन दिवाकर से ये भिन्न हैं। ये सिद्धसेन मुनीन्द्र भावलिंगी सन्त महान् स्वरूपलक्ष्मी के स्वामी थे। तथा तर्करूपी कमल को विकसित करने में सूर्य के समान अकलंक मुनीन्द्र भी भावलिंगी सन्त थे, आत्मा के आनन्द में निरंतर झूलते थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका इत्यादि न्यायग्रन्थों की रचना की है।

शब्दसिन्धु को उछालनेवाले चन्द्र समान पूज्यपाद मुनीन्द्र ने महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका रची है। सिद्धान्तादि तीनों ज्ञान से समृद्ध ऐसे श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के इस ग्रंथ की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार ने प्रथम महान् दिगम्बर सन्तों का स्मरण करके, उनके चरणकमलों में नमस्कार किया है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि गुरुओं को स्मरण करनेवाले इस छन्द में सिद्धान्तशास्त्र के ज्ञाता आचार्य सिद्धसेन, न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव, शब्दशास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता आचार्य पूज्यपाद और उक्त तीनों के ज्ञाता आचार्य वीरनन्दी की वन्दना की गई है।।३।।

मंगलाचरण में देव-शास्त्र-गुरु की वंदना करने के उपरान्त अब इस चौथे छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार नामक इस शास्त्र की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं। छन्द मूलतः इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्य्यसंज्ञिकाम्।।४।।

(दोहा)

भव्यों का भव अन्त हो निज आतम की शुद्धि।
नियमसार की तात्पर्य वृत्ति कहूँ विशुद्ध।।४।।

भव्यजीवों की मुक्ति के लिए और अपने आत्मा की शुद्धि के लिए

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८

मैं इस नियमसार नामक शास्त्र की (संस्कृत भाषा में) तात्पर्यवृत्ति नामक टीका कहूँगा (लिखूँगा)।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निमित्तरूप से भव्यजीवों के मोक्ष के लिए मैं टीका करता हूँ और उपादानरूप से मैं अपने आत्मा की शुद्धता के लिए यह टीका करता हूँ।

इस टीका द्वारा शुद्ध चैतन्य परमपारिणामिक स्वभाव का घोलन करने पर विकल्प टूट जायेगा और शुद्धता बढ जायेगी। श्री अमृत-चन्द्राचार्यदेव ने समयसार के मंगलाचरण में भी ऐसा ही कहा है।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में स्वपरकल्याण के लिए यह तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने की प्रतिज्ञा की गई है, संकल्प किया गया है।।४।।

नियमसार नामक शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अब आगामी छन्दों में अपनी लघुता प्रगट करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह्न

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः।।५।।

(अनुष्टुप्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना।।६।।

(दोहा)

गुणधर गणधर से रचित श्रुतधर की सन्तान।
परमागम का कथन हम कैसे करें बखान।।५।।
परमागम की पुष्ट रुचि प्रेरित करे अनल्प।
इसीलिये यह लिख रहे और न कोई विकल्प।।६।।

गुणों को धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९

से भलीभाँति व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करनेवाले मन्दबुद्धि हम कौन होते हैं ?

यद्यपि गणधरादि श्रुतकेवलियों द्वारा निरूपित परमागम का अर्थ करने में हम जैसे मन्दबुद्धि लोग समर्थ नहीं हैं; तथापि **इस समय हमारा मन इस परमागम के सार की पुष्ट रुचि से बारम्बार प्रेरित हो रहा है। यही कारण है कि हम इस तात्पर्यवृत्ति टीका लिखने के लिए उद्यत हुए हैं।**

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन छन्दों के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहो ! स्वयं महासमर्थ सन्त होने पर भी उनमें कितनी निर्मानता है। यद्यपि उन्होंने टीका में ऐसा अलौकिक रहस्य प्रगट किया है, **दूसरे किसी भी ग्रन्थ में ऐसा खुला रहस्य नहीं है ह्न अन्तर में चैतन्य को स्पर्श करके कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष उपयोग इत्यादि का अपूर्व अलौकिक रहस्य प्रगट किया है; तो भी कहते हैं कि अरे ! गणधरादिक महासन्तों के समक्ष हम जैसे मन्दबुद्धि किस गणना में हैं ?**[१]

इस परमागम में अलौकिक रहस्य भरा है। उसकी पुष्ट रुचि से 'इस समय' पुन: पुन: उसकी टीका करने के लिए हमारा हृदय प्रेरित हो रहा है। क्षण में विकल्प तोड़कर आनन्द का अनुभव करते हैं और क्षण में ही फिर इस टीका का विकल्प उत्पन्न हो जाता है अर्थात् इस समय इस टीका की तरफ मन का विकल्प जा रहा है, इसलिए यह टीका रची जा रही है।[२]''

आचार्य भगवंतों द्वारा ग्रंथों की रचनायें किसी न किसी की प्रेरणा से की जाती रही हैं। किसी रचना का बाह्य में कोई प्रेरक न भी रहा हो, तब भी परहित की भावना तो प्रेरक बनती ही रही है; किन्तु इस टीका की रचना किसी की प्रेरणा से नहीं की गई है; अपितु **नियमसार में प्रतिपादित विषयवस्तु में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का मन ऐसा रमा**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०-११
२. वही, पृष्ठ १२

कि उनसे यह टीका सहजभाव से बन गई है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने यह कार्य मात्र अपने आनन्द के लिए ही किया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ओर चौथे छन्द में तो यह कहा गया है कि भव्यों की मुक्ति और अपने आत्मा की शुद्धि के लिए यह टीका लिखी जा रही है; वहीं दूसरी ओर इन पाँचवें-छठवें छन्दों में यह कहा जा रहा है कि नियमसार की टीका लिखनेवाले मन्दबुद्धिवाले हम कौन होते हैं ? यद्यपि यह बात हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं; तथापि इस समय हमारा मन इस परमागम के सार की रुचि से इतना पुष्ट हो रहा है कि वह मानता ही नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि हमारी रुचि ही इस ग्रंथ की टीका करने को हमें बाध्य कर रही है।

उक्त प्रश्न का सीधा-सच्चा उत्तर यही है कि यद्यपि मैंने इस टीका का प्रणयन अपनी रुचि को पुष्ट करने के लिए किया है अथवा यह टीका मेरी परिपुष्ट आध्यात्मिक रुचि का ही परिणाम है; तथापि इससे मेरी आत्मशुद्धि के साथ-साथ भव्यों का कल्याण भी तो होगा ही।

इसप्रकार यहाँ कर्तृत्वबुद्धि का निषेध करते हुए भी इससे स्व-पर को होनेवाले लाभ का भी ज्ञान करा दिया गया है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि भले ही यह टीका मेरी पुष्ट रुचि का परिणाम हो, पर इससे मुझे व अन्य लोगों को लाभ तो होगा ही।

तात्पर्य यह है कि यह स्व-पर हितकारी तात्पर्यवृत्ति टीका इस ग्रंथराज नियमसार की आध्यात्मिक विषयवस्तु से पुष्ट हुई मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की रुचि का ही परिणाम है, कार्य है।

इसीप्रकार का भाव भक्तिकाव्य भक्तामर स्तोत्र में भी व्यक्त किया गया है। उक्त छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम:।
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्॥
यत् कोकिल: किल मधौ मधुरं विरौति।
तच्चाम्र-चारु-कलिका-निकरैक-हेतु॥

जिसप्रकार बसंत ऋतु में कोयल मधुर स्वर में कूकती है; उसका

एकमात्र कारण खिली हुई आम्र की कलिकायें ही होती हैं; उसीप्रकार यद्यपि मैं अल्पश्रुत हूँ, आपके बारे में बहुत कम जानता हूँ; अत: बहुश्रुत वालों के लिए, विशिष्ट अभ्यासी विद्वानों के लिए हंसी का पात्र हूँ; तथापि मेरे हृदय में आपके प्रति जो अपार भक्ति है, वही आपकी भक्ति करने के लिए मुझे मुखर कर रही है, प्रेरित कर रही है, बाध्य कर रही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त छन्दों में मात्र यही कहा गया है कि गणधर और श्रुतधरों से प्रणीत इस परमागम पर टीका लिखना मेरे पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे मंदबुद्धियों का काम नहीं है; तथापि नियमसार में प्रतिपादित अध्यात्म की परिपुष्ट रुचि ही यह कार्य करने के लिए मुझे प्रेरित कर रही है।।५-६।।

अपनी लघुता प्रकट करने के उपरान्त अब टीकाकार पद्मप्रभमल-धारिदेव इस सातवें छन्द में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा करते हैं, जो इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुप्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थका: ।
प्रोक्ता: सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया: ।।७।।

(दोहा)

सात तत्त्व छह द्रव्य अर नवार्थ प्रत्याख्यान।
पाँचों अस्तीकाय का किया गया व्याख्यान।।७।।

इस ग्रन्थ में प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का वर्णन करने के पूर्व गाथा सूत्रकर्ता आचार्यदेव द्वारा पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निर्विकल्प आत्मा की क्रिया ही सत्क्रिया है और बीच में शुभराग की वृत्ति उठे, वह सत्क्रिया नहीं है, अपितु विकारी क्रिया है। चैतन्य-

स्वभाव ध्रुव परमपारिणामिक तत्त्व है। उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रिया होती है, उसका नाम सत्क्रिया है।

प्रत्याख्यान किसे कहें और भक्ति किसे कहें ?

चैतन्य में लीनता ही प्रत्याख्यान है और भक्ति आदि सत्क्रिया है। जो राग होता है, वह असत् क्रिया है और शरीरादि की क्रियायें तो जड़ की क्रियायें हैं।

सत्क्रिया कहो या धर्म की क्रिया कहो ह्न दोनों एक ही बात है। बीच में राग का वर्णन आये वह तो मात्र ज्ञान कराने के लिए ही आयेगा; किन्तु उस राग की क्रिया को हम सत्क्रिया नहीं कहते। वीतराग के पंथ की क्रिया ही सत्क्रिया है। जितना राग उठे, वह वीतराग के पंथ की सत्क्रिया नहीं है, किन्तु असत्क्रिया है।[१]

प्रथम चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना सत्क्रिया है। उसके बाद निश्चय प्रत्याख्यान, भक्ति आदि की सत्क्रिया कैसी होती है, उसका इसमें वर्णन है। जिसको स्वभाव का भान नहीं, वह तो नाम से जैन है। चैतन्य का जैसा स्वभाव है, वैसा पहचान कर मोह को जीते, वही सच्चा जैन है।

आचार्यदेव ने पांच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नव पदार्थों का वर्णन किया है। उनको जो न जाने, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जीव को जीव, अजीव को अजीव, पुण्य को पुण्य, पाप को पाप और संवर को संवर माने ह्न यही सत्क्रिया है; जो इसप्रकार नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न न माने और अजीव की क्रिया जीव करता है ह्न ऐसा माने, पुण्य से धर्म होता है ह्न ऐसा माने, तो उसने नव तत्त्वों को वास्तव में माना नहीं और उसके प्रत्याख्यानादि धर्मक्रिया होती नहीं।

प्रथम नवतत्त्व को पहिचान कर चैतन्यस्वभाव को पहिचाने। पश्चात् अन्दर में एकाग्रता करने पर राग टल जाय ह्न उसका नाम प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की क्रिया है,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३

पुण्य की क्रिया वह असत्क्रिया है। चिदानन्दस्वभावी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप क्रिया वह सत्क्रिया है। उसका वर्णन इस शास्त्र में आयेगा। इस वीतरागी क्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में नियमसार ग्रन्थ में समागत विषयवस्तु का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। एक प्रकार से यह छन्द इस ग्रन्थ का सूचीपत्र ही है।।७।।

इसप्रकार टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मंगलाचरण, टीका करने की प्रतिज्ञा, ग्रन्थ की विषयवस्तु और अपनी स्थिति स्पष्ट करने के उपरान्त अन्त में लिखते हैं ह्न

अलमलमतिविस्तरेण। स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय।

अधिक विस्तार से बस हो, बस हो। साक्षात् यह विवरण जयवंत वर्ते। तात्पर्य यह है कि टीकाकार अब इस चर्चा से विराम लेते हैं; क्योंकि इस संबंध में अधिक बात करने से क्या लाभ है ?

अब तो मूल ग्रन्थ की चर्चा का अवसर है। ●

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४-१५

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामादिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञान दर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवली भगवान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; तथापि सभी पदार्थ बिना यत्न के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६४**

जीवाधिकार

(गाथा १ से गाथा १९ तक)

नियमसार गाथा १

आचार्य कुन्दकुन्दकृत मूल ग्रन्थ नियमसार के मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य संबंधी इस प्रथम गाथा की उत्थानिका में टीकाकार पद्मप्रभ-मलधारिदेव ने मात्र इतना ही कहा है ह्न

''**अथ सूत्रावतारः** = अब गाथा सूत्र का अवतरण होता है।''

समयसार की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी प्रथम गाथा की उत्थानिका में इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है।

लोक में 'अवतार' शब्द की महिमा अपार है। इस शब्द का प्रयोग लोककल्याण के लिए भगवान के अवतार के अर्थ में होता है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव भी उक्त पद के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि यह नियमसार नामक शास्त्र लोककल्याणकारी महान शास्त्र है, भागवत शास्त्र है। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं।।१।।

(हरिगीत)

वर नंत दर्शनज्ञानमय जिनवीर को नमकर कहूँ।
यह नियमसार जु केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित।।१।।

अनंत और उत्कृष्ट है ज्ञान-दर्शन जिनका अर्थात् जिनको केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हो गये हैं; उन भगवान महावीर को नमस्कार करके मैं केवली और श्रुतकेवली द्वारा कहा गया नियमसार कहूँगा।

इस मंगलाचरण की गाथा में वीतरागी सर्वज्ञ भगवान महावीर को नमस्कार करके नियमसार शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की गई है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अब यहाँ **'जिनं नत्वा'** आदि गाथा के द्वारा शास्त्र की आदि में असाधारण मंगल किया गया है और टीका में **नत्वा** आदि पदों का तात्पर्य बताया जा रहा है।

अनेक जन्मरूपी अटवी को प्राप्त कराने के कारणरूप मोह-राग-द्वेषादि भावों को जीतनेवाले को ही जिन कहा जाता है। विक्रान्त (पराक्रमी) को वीर कहते हैं। **जो वीरता प्रगट करे, शूरता (शौर्य) प्रगट करे, पराक्रम दिखाये, कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे; वह वीर है।**

जो वर्द्धमान, सन्मति, अतिवीर और महावीर ह्न इन नामों से सनाथ, परमेश्वर, महादेवाधिदेव और अन्तिम तीर्थंकर हैं, जो तीन लोक के चराचर द्रव्य-गुण-पर्याय से कहे जानेवाले समस्त पदार्थों को जानने-देखने में समर्थ पूर्णत: निर्मल केवलदर्शन-ज्ञान से संयुक्त हैं ह्न ऐसे वीर भगवान को नमस्कार करके नियमसार नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

यहाँ नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को सूचित करता है। इसप्रकार नियमसार ह्न ऐसा कहकर शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा है।

मैं सकलप्रत्यक्ष ज्ञान के धारी केवली और सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के धारी श्रुतकेवली द्वारा कथित, सभी भव्यजीवों के लिए हितकारी नियमसार नामक परमागम को कहता हूँ, लिखता हूँ।

इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेव के स्तवन के उपरान्त गाथा सूत्रों के रचयिता पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्द गुरुदेव के द्वारा नियमसार शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। इसप्रकार यहाँ गाथा में समागत सभी पदों का तात्पर्य कह दिया गया।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं ह्न

''मंगलाचरण में जिन्होंने चैतन्यस्वभाव का भान करके मोह-राग-द्वेष को जीत लिया है; उन सर्वज्ञ वीर भगवान को नमस्कार किया है, राग का आदर करनेवाले को नमन नहीं किया।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १८

यह नियमसार परमागम है। इसमें कथित शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप सीधा सर्वज्ञ की वाणी की परम्परा से प्रवर्तन करता चला आया है और भावलिंगी सन्तों ने परम्परा से लिखा है। ऐसा नियमसार मैं कहता हूँ।

इसप्रकार विशिष्ट इष्टदेव का स्तवन करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव नियमसार कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।[१]''

इसप्रकार इस मंगलाचरण और प्रतिज्ञा संबंधी गाथा में आचार्यदेव ने वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान महावीर को नमस्कार करके, केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रतिपादक नियमसार नामक शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञा की है।।१।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त टीकाकार एक कलश काव्य लिखते हैं, जिसमें गाथा के समान ही भगवान महावीर की स्तुति की गई है। कलश मूलत: इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति जगति वीर: शुद्धभावास्तमार:
त्रिभुवनजनपूज्य: पूर्णबोधैकराज्य:।
नतदिविजसमाज: प्रास्तजन्मद्रुबीज:
समवसृतिनिवास: केवलश्रीनिवास:।।८।।

(रोला)

शुद्धभाव से नाश किया है कामभाव का।
तीन लोक में पूज्य देवगण जिनको नमते।।
ज्ञान राज्य के राजा नाशक कर्मबीज के।
समोसरन के वासी जग में वीर जिनेश्वर।।८।।

जिन्होंने अपने शुद्धभावों से कामविकार का अभाव किया है, तीनलोक के लोगों द्वारा जो पूज्य है, ज्ञान ही जिनका राज्य है, देवों का समाज जिन्हें नमस्कार करता है, जन्मरूपी वृक्ष का बीज जिन्होंने नष्ट कर दिया है, समोसरण में जिनका निवास है और जिनमें केवलदर्शन-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २४

ज्ञानरूपी लक्ष्मी का निवास है; वे वीर भगवान जगत में जयवंत वर्तें।

जिन वीर भगवान को मंगलाचरण संबंधी मूल गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नमस्कार किया है; उसी गाथा की टीका लिखने के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से उन्हीं वीर भगवान का जय-जयकार कर रहे हैं।

कह रहे हैं कि **जगत में वे वीर भगवान जयवंत वर्तें; जिन्होंने अपने शुद्धभावों से कामविकार को जीत लिया है, जो सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान समोसरण में विराजमान हैं और तीनलोक के द्वारा पूजे जाते हैं॥८॥** ●

प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणमन होगा ह्न यह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में झलक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले यह बता दिया था कि यह द्वारका नगरी बारह वर्ष बाद जल जायेगी और लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जलने से रोका नहीं जा सका, आखिर वह जली ही।

इसीप्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी पड़ी हैं, जो इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि भविष्य एकदम सुनिश्चित है, अघटित कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवली भगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६५

नियमसार गाथा २

मंगलाचरण के तत्काल बाद इस दूसरी गाथा में ही आचार्यदेव मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा आरंभ कर देते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥२॥

(हरिगीत)

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल।
है मार्ग मोक्ष उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल॥२॥

जैनशासन में मार्ग और मार्गफल ह्न ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं। उनमें मोक्ष के उपाय को मार्ग कहते हैं और मार्ग का फल निर्वाण की प्राप्ति है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप के निरूपण की सूचना है, प्रस्तावना है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: ह्न सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है ह्न ऐसा महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र का वचन होने से मार्ग तो शुद्धरत्नत्रय है और मार्गफल मुक्तिरूपी रमणी के विशाल मस्तक में अलंकाररूप तिलकपना है। तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्ग का फल मुक्तिरूपी रमणी से शादी होना है अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होना है।

इसप्रकार इस मार्ग और मार्गफल ह्न इन दो का व्याख्यान परम-वीतरागी सर्वज्ञ भगवान के शासन में चतुर्थज्ञान अर्थात् मन:पर्ययज्ञान के धारी पूर्वाचार्यों ने किया है।

निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप परम निरपेक्ष शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि है।''

उक्त गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रथम गाथा में आचार्यदेव ने नियमसार कहने की प्रतिज्ञा की थी। नियम अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और सार अर्थात् शुद्धता; शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही नियमसार है।[१]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में ही निजपरमात्मतत्त्व का ही अवलम्बन है, किसी पर का अवलम्बन नहीं है। निजपरमात्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी भी 'पर' का अवलम्बन शुद्धरत्नत्रय में नहीं होता। इसीलिए यह रत्नत्रय परमनिरपेक्ष है और इसी को गणधरों ने मोक्षमार्ग कहा है।

यह मोक्षमार्ग परमनिरपेक्ष है। ध्रुवपरमात्मतत्त्व की अपेक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त, विकल्प या व्यवहार की अपेक्षा शुद्ध रत्नत्रय को नहीं है। ऐसा निरपेक्ष रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है। निमित्त से हो या राग से हो, ऐसी अपेक्षा मोक्षमार्ग को नहीं है।[२]

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान में पर की या विकल्प की अपेक्षा नहीं है और सम्यक्चारित्र में भी पर की या पंचमहाव्रत के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। भव्यसमूह ऐसे मोक्षमार्ग को जान कर मोक्ष प्राप्त करें, इसीलिए इस शास्त्र की रचना हुई है। निजात्मा परिपूर्ण अनन्तशक्ति का पिण्ड है। उसमें अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है। अभेद चैतन्य की अपेक्षा है, किन्तु भेद की अपेक्षा नहीं है। स्व की अपेक्षा है, किन्तु पर की अपेक्षा नहीं है। ह्न ऐसा परमनिरपेक्ष मोक्षमार्ग है, यही वीतरागी सन्तों ने कहा है।

और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्धात्मा की प्राप्ति) है। अपने आत्मा की पूर्ण मुक्तदशा प्रकट होना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति है। मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष अपने में है और उसका फल भी अपने में है। अपना आत्मा ही भगवान बन जाय ह्न यही मोक्षमार्ग का फल है।[३]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २८
२. वही, पृष्ठ ३१
३. वही, पृष्ठ ३३

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि **शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और मुक्ति की प्राप्ति उसका फल है।।२।।**

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सारा जगत तो धन की रक्षा और रमणी की संभाल में व्यस्त है; कोई-कोई पण्डितजन ही ऐसे हैं; जो शुद्धात्मा की साधना करते हैं।

जिस छन्द में उक्त चर्चा की गई है, वह इसप्रकार है ह्न

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः।
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः।।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो।
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः।।९।।

(रोला)

कभी कामिनी रति सुख में यह रत रहता है।
कभी संपती की रक्षा में उलझा रहता।।
किन्तु जो पण्डितजन जिनपथ पा जाते हैं।
हो जाते वे मुक्त आत्मा में रत होकर।।९।।

मनुष्य कभी तो कामिनी के प्रति रति से उत्पन्न होनेवाले सुख की ओर जाता है तो कभी धन की रक्षा में बुद्धि लगा देता है; परन्तु जो पण्डित लोग कभी जिनदेव के मार्ग को प्राप्त करके निज आत्मा में रत हो जाते हैं; वे मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

उक्त कलश के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनिराज कहते हैं कि स्त्री आदि के विषयों में तो जगत के जीव अनादि से रत हैं ही, किन्तु वह तो संसार का कारण है; परन्तु जिनवर के मार्ग को पाकर जो अपने आत्मा में रत होते हैं, वे ही वास्तव में पण्डित हैं और वे ही मोक्ष पाते हैं।

पण्डित उन्हें कहते हैं कि जो जीव जिनवर के निरपेक्ष मार्ग को समझकर अपने आत्मा में रत होते हैं और वे ही वास्तव में मुक्ति को पाते हैं। आत्मा में रत होने को ही मार्ग कहा और उसी के फल में मोक्ष पाते हैं ह्न ऐसा कहा।[१]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि कंचन और कामिनी में उलझे लोग इस उत्कृष्ट मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते। इस मार्ग को पानेवाले तो पण्डितजन ही हैं; जो इस मार्ग को पाकर निज आत्मा की आराधना करते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव की दृष्टि में **पण्डित** शब्द कितना महान है। उनकी दृष्टि में जो जिनवर के मार्ग को प्राप्त कर अपने आत्मा की आराधना करते हैं, वे ही पण्डित हैं।

जिन लोगों को **पण्डित** शब्द से ही एलर्जी है; उन्हें मुनिराज पद्मप्रभ-मलधारिदेव के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि पण्डित नामधारी कुछ लोगों ने अपने जीवन और व्यवहार से इस महान शब्द को बदनाम कर दिया है; तथापि ऐसा तो सभी शब्दों के साथ होता रहा है। कुछ मुनिराजों ने अपने व्यवहार से यदि मुनिधर्म को कलंकित कर दिया हो तो क्या सच्चे मुनिराज स्वयं को मुनिराज कहलाने में लज्जित होंगे ?

यदि नहीं तो हमें भी अपने सत्कर्मों, सद् व्यवहार और सच्चे आत्मार्थीपने से अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ इस महान शब्द की प्रतिष्ठा को भी पुनर्स्थापित करना चाहिए।

इस महान शब्द के प्रति अरुचि प्रदर्शित करने या इससे घृणा करने से पण्डित टोडरमल जैसे उन सभी महान पण्डितों के प्रति अरुचि और घृणा व्यक्त होती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान महावीर के इस उत्कृष्ट अध्यात्म को हिन्दी भाषा में उत्तर भारतीय आत्मार्थी विद्वान पण्डितों ने ही जीवित रखा है॥९॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३४

नियमसार गाथा ३

इस ग्रन्थ का नाम नियमसार है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि नियम किसे कहते हैं और नियम के साथ जुड़े हुए सार शब्द का क्या प्रयोजन है ?

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इस तीसरी गाथा में दिया गया है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥३॥

(हरिगीत)

सद् ज्ञान-दर्शन-चरण ही हैं 'नियम' जानो नियम से।
विपरीत का परिहार होता सार इस शुभ वचन से॥३॥

जो कार्य नियम से करने योग्य हो, उसे नियम कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र नियम से करने योग्य कार्य हैं; इसलिए वे नियम हैं। विपरीतता के परिहार के लिए यहाँ 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है।

इसप्रकार 'नियमसार' शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि इस ग्रंथ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निरूपण किया गया है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में **नियम** शब्द के साथ **सार** विशेषण क्यों लगाया गया है ह्न इस बात के प्रतिपादन द्वारा स्वभावरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है। जो सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित, स्वभाव-अनन्त-चतुष्टयात्मक शुद्धचेतनापरिणाम है, वह नियम अर्थात् कारणनियम हैं।

जो प्रयोजनभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप कार्य नियम से करने योग्य है; वह कार्यनियम है।

उक्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र ह्न इन तीनों का स्वरूप इसप्रकार हैह्न

- परद्रव्य के अवलम्बन बिना सम्पूर्णत: अन्तर्मुख योग शक्ति से ग्रहण करने योग्य निज परमतत्त्व का परिज्ञान ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है।
- भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सुख के अभिलाषी जीव को, शुद्ध अन्तस्तत्त्व के विलास की जन्मभूमिरूप जीवास्तिकाय से उत्पन्न होनेवाला परमश्रद्धान ही दर्शन (सम्यग्दर्शन) है।
- निश्चयज्ञानदर्शनात्मक कारणपरमात्मा में इस जीव की अविचल स्थिति ही चारित्र (सम्यक्चारित्र) है।
- यह ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप **नियम** निर्वाण का कारण है। **नियम** शब्द में जोड़ा गया **सार** शब्द विपरीतता के परिहार के लिये है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वभावरत्नत्रय दो प्रकार का है ह्न (१) त्रिकाल २. वर्तमान। यहाँ मूलसूत्र में कार्यनियम की बात है। उसमें से टीका में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कारणनियम की बात निकाली है। जो त्रिकालस्वभावरत्नत्रय है, वह तो कारणरूप नियम है और जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रकट होता है, वह कार्यनियम है।[१]

मोक्ष का कारण रत्नत्रय है और वही नियम से करने योग्य कार्य है। उस रत्नत्रयरूपी कार्य का कारण स्वभावचतुष्टयमय सहजचेतना है, वह **कारणनियम** है। जो सहजपरमपारिणामिकभाव से स्थित स्वभाव अनंत चतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम है, वह **नियम (कारणनियम)** है।[२]

इस शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम में 'परिणाम' शब्द होने पर भी वह उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को सूचित नहीं करता तथा पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है। यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम तो उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है और द्रव्यार्थिकनय का विषय है। वह स्वयं मोक्षमार्ग नहीं है, अपितु त्रिकाली है और उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३६ २. वही, पृष्ठ ३७

जो मोक्षमार्ग प्रकट होता है, वह तो कार्य है और ध्रुवशुद्धचेतना-परिणाम उसका कारण है तथा मोक्षमार्ग प्रकट हुआ, वह तो कारण और मोक्षदशा हुई है, वह कार्य है। इसतरह दो प्रकार से कारण-कार्य है। मोक्ष और मोक्षमार्ग यह दोनों तो उत्पादव्ययवाले हैं और पर्यायार्थिकनय के विषय हैं तथा द्रव्यार्थिकनय का विषय सहजज्ञानचेतना-परिणाम है, उसको कारणनियम कहते हैं।

त्रिकाल सदृश एकरूप ध्रुवपरिणाम का अवलम्बन लेने पर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम प्रकट होता है, वह कार्य है। **त्रिकाल-सामान्यध्रुव और उसका सदृशरूप वर्तमानध्रुवपरिणाम ह्न यह दोनों कारणरूप नियम में समाविष्ट हो जाते हैं।**[१]

जैसे त्रिकाल सामान्यध्रुव है, वैसे ही उसका वर्तमान भी ध्रुव है। यदि त्रिकालध्रुव का वर्तमान ध्रुव न हो तो वर्तमान में मोक्षमार्ग प्रकट होने की सामर्थ्य कहाँ से आयेगी ?[२]

अहो ! जब देखो तभी तुम्हारा कारण तुम्हारे पास विद्यमान ही पड़ा है। उस कारण को नया उत्पन्न नहीं करना पड़ता, उसके आश्रय से कार्य प्रकट हो जाता है। कारण शोधने के लिए कहीं जाना पड़ें ह्न ऐसा नहीं है। ऐसे का ऐसा ध्रुव जब देखो तब वर्तमान में तुम्हारे पास ही पड़ा है। उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता करने पर मोक्षमार्ग की पर्याय प्रकट हो जाती है।

ध्रुवकारण तो त्रिकाल विद्यमान है और उसे पहचानने पर मोक्षमार्ग नवीन प्रकट होता है। मोक्षमार्ग तो कार्यनियम है और ध्रुवस्वभाव कारणनियम है। कारणनियम को करना नहीं पड़ता, वह तो त्रिकाल है। जब देखो तब अन्तर में ही उपस्थित है। उसमें अन्तर्मुख होने पर कार्यनियम प्रकट होता है।

स्वभावरत्नत्रय दो प्रकार का है। एक त्रिकाल कारणरूप और दूसरा कार्यरूप। उसमें जो कार्यरूप रत्नत्रय है, वह मोक्षमार्ग है।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८-३९
२. वही, पृष्ठ ४० ३. वही, पृष्ठ ४१

निश्चय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को 'नियमसार' कहकर व्यवहार ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अभाव बताया है। वह हो भले ही, किन्तु मोक्षमार्ग तो ऐसा निश्चय ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही है, व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शनसहित भी जो पंच-महाव्रतादि व्यवहारचारित्र है, वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है। अन्तर में लीनतारूप निश्चयचारित्र ही सम्यक्चारित्र है और वही नियम है।

इसप्रकार अन्तर में निजपरमात्मद्रव्य के आश्रय से जो ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप नियम है, वही निर्वाण का कारण है। निर्वाण अर्थात् सादि-अनन्त काल तक स्वरूप में स्थित बना रहना। वह भी चैतन्य-स्वरूप के ही आश्रय से है। व्यवहार तो स्वयं अस्थिरता है, उससे स्वरूप में स्थितिरूप निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता।[१]

नियम अर्थात् रत्नत्रय, उसकी शुद्धता बताने के लिए उसमें 'सार' शब्द जोड़ा गया है। **यहाँ निश्चयरत्नत्रय से विपरीत, व्यवहाररत्नत्रय के परिहारार्थ 'नियम' शब्द के साथ 'सार' शब्द लगाया गया है। अत: निर्विकल्प रत्नत्रय ही 'नियमसार' है और वही निर्वाण का कारण है।**[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि कारणनियम और कार्यनियम के भेद से नियम (रत्नत्रय) दो प्रकार का होता है। त्रिकालस्वभावरत्नत्रय कारणनियम है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप प्रगट पर्याय कार्य-नियम है।

त्रिकालस्वभावरत्नत्रय को शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम भी कहते हैं। इसकारण शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को कारणनियम भी कहते हैं। यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है, द्रव्यरूप है; अत: द्रव्यार्थिकनय का विषय है। यह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है, यह तो त्रिकाली ध्रुव है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

यहाँ कारण-कार्यव्यवस्था दो प्रकार से घटित होती है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४५-४६

२. वही, पृष्ठ ४६

१. त्रिकाली ध्रुवशुद्धज्ञानचेतनापरिणाम कारण है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कार्य है।

२. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण है और मोक्ष कार्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शुद्धचेतनाज्ञानपरिणाम तो मात्र कारण ही है; क्योंकि उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। इसीप्रकार मोक्ष केवल कार्य ही है; किन्तु रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कारण भी है और कार्य भी है। मोक्षमार्ग मोक्ष का कारण है और शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम का कार्य है।

जिसप्रकार त्रिकाल सदृश एक रूप ध्रुवपरिणाम है; उसीप्रकार उसका सदृशरूप वर्तमान ध्रुवपरिणाम भी है। ये दोनों ही कारणरूप नियम में समाविष्ट हैं। **तात्पर्य यह है कि कारणनियम भी दो प्रकार का है ह्न १. त्रिकाल एकरूप ध्रुव परिणाम और २. वर्तमान ध्रुवपरिणाम।**

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'सार' शब्द विपरीतता के परिहार के लिए प्रयुक्त है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात करें तो इनके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिहार लिया जायेगा; किन्तु यदि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग की बात करें तो उसके विपरीत व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग का परिहार अभीष्ट होगा। चूंकि यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग की बात चल रही है; अत: यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग को ही विपरीत मानकर, उसी का परिहार अभीष्ट होना चाहिए।।३।।

इस गाथा की टीका के अन्त में टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव अपनी भावना को एक आर्या छन्द में इसप्रकार व्यक्त करते हैं।

छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनंगशं यामि।।१०।।

(रोला)

विपर्यास से रहित अनुत्तम रत्नत्रय को।
पाकर मैं तो वरण करूँ अब शिवरमणी को॥
प्राप्त करूँ मैं निश्चय रत्नत्रय के बल से।
अरे अतीन्द्रिय अशरीरी आत्मीक सुक्ख को॥१०॥

इसप्रकार मैं विपरीतता से रहित अनुत्तम रत्नत्रय का आश्रय करके मुक्तिरूपी रमणी से उत्पन्न अनंग सुख को प्राप्त करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि विपरीतता से रहित निश्चय रत्नत्रय अर्थात् विकल्परहित निर्विकल्प रत्नत्रय को धारण करने से अशरीरी, अतीन्द्रिय, अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इस छन्द में कहा गया है कि मैं शिवरमणी का वरण करता हूँ और उससे उत्पन्न अनंग सुख को प्राप्त करता हूँ।

पंचमकाल में तो मुक्ति होती ही नहीं है; फिर ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

इसप्रकार की शंका आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के चित्त में भी उत्पन्न हुई थी। उक्त संदर्भ में उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किया; वह इसप्रकार है ह्न

''अनंग सुख अर्थात् अतीन्द्रिय सुख। आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला सुख अनंग सुख है। अंग का अर्थ है शरीर, उससे पार आत्मा के अनुभव का सुख अनंग सुख है। ऐसे सुख को मैं प्राप्त करता हूँ। परम शुद्ध उत्तम रत्नत्रय का आश्रय करके मुक्तिरूपी स्त्री से उद्भवित अनंग सुख को मैं प्राप्त करता हूँ। अभी मुक्ति हुई नहीं है, परन्तु अन्तर में अनुभव के बल से मुक्ति सुख को मैं वर्तमान में प्राप्त करता हूँ।

मुक्ति होगी और मुक्ति का सुख मिलेगा ह्न ऐसी बात नहीं की; किन्तु द्रव्य के आश्रय से पर्याय उसमें अभेद होने पर हमारी वर्तमान में ही मुक्ति है। जहाँ भेद को देखते नहीं, अभेद में लीन हुए; वहाँ वर्तमान

में ही मुक्ति है। इसलिए कहा है कि मैं मुक्ति के सुख को प्राप्त करता हूँ। इसी समय मुनिदशा में मुक्ति जैसा आनन्द अनुभव करता हूँ।

मुक्ति का आधार तो भगवान आत्मा है, वह सम्पूर्ण वर्तमान में वर्त रहा है, उसी के आश्रय से मैं वर्तमान में मुक्ति के सुख को प्राप्त करता हूँ।

कोई कहे कि पंचमकाल में यह टीका लिखी गई है और इस पंचमकाल में तो किसी को मुक्ति होती ही नहीं। तो उससे कहते हैं कि जहाँ पर्याय अन्तर में झुककर अभेद हुई, वहाँ पूरे स्वभाव के आश्रय की लीनता से तृप्ति है, ध्रुव स्वभाव के आश्रय से पर्याय कृतकृत्य होकर वर्त रही है; इसलिए अधूरी पर्याय अथवा पूर्ण पर्याय ऐसे पर्यायभेद को मैं देखता ही नहीं। मैं तो द्रव्य में लीन होने से वर्तमान में ही मुक्ति सुख का अनुभव करता हूँ।

अपूर्ण अथवा पूर्ण ह्न ऐसे पर्याय में भेद के ऊपर मेरा जोर नहीं है, किन्तु अभेद स्वभाव वर्तमान में ही परिपूर्ण है, उसी के ऊपर मेरा जोर है और उसमें एकाग्रता से वर्तमान में ही मुक्ति जैसे सुख का मैं अनुभव करता हूँ ह्न ऐसा टीकाकार मुनिराज कहते हैं।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ इस कलश में विपरीतता से रहित, सर्वश्रेष्ठ निश्चयरत्नत्रय के प्रताप से अनंत अतीन्द्रिय अनंग सुख की कामना की गई है, अनंत अतीन्द्रिय अनंग सुख की प्राप्ति की सूचना दी गई है॥१०॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४७

केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में, लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६४**

नियमसार गाथा ४

विगत गाथा में नियम और उसके साथ जुड़े हुए सार शब्द की चर्चा की थी। अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होई।।४।।

(हरिगीत)

है नियम मोक्ष उपाय उसका फल परम निर्वाण है।
इन ज्ञान-दर्शन-चरण त्रय का भिन्न-भिन्न विधान है।।४।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल परम निर्वाण की प्राप्ति है। अत: यहाँ इन तीनों का भिन्न-भिन्न निरूपण किया जा रहा है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन रत्नत्रय के भेद और लक्षण के संबंध में है।

समस्त कर्मों के नाश से साक्षात् प्राप्त किया जानेवाला महा आनन्द ही मोक्ष है। उक्त महानंदरूप मोक्ष का उपाय पूर्वोक्त निरुपचार रत्नत्रय परिणति है। उक्त रत्नत्रय परिणति के अन्तर्गत आनेवाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र का यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र ह्न इसप्रकार भिन्न-भिन्न निरूपण होता है, इनके लक्षण आगे आनेवाले गाथा सूत्रों में कहे जायेंगे। अत: इन्हें वहाँ से ही जानना चाहिए।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आनन्दरूप मोक्षदशा शुद्धरत्नत्रय से प्रकट होती है। जो शुद्ध-रत्नत्रय है, वही निरुपचार रत्नत्रय परिणति है। बीच में व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जो शुभराग है, वह वास्तव में रत्नत्रय नहीं है, वह तो

उपचाररत्नत्रय है। **त्रिकाल निज परमात्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप जो परिणति है, वह निरुपचार रत्नत्रय परिणति है और वही मोक्ष का उपाय है।**[१]''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि समस्त कर्मों के अभाव से उत्पन्न होनेवाली अनन्त अतीन्द्रिय आत्मीक आनन्दवाली दशा ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति का उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रयरूप है।

रत्नत्रय के भेद सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप आगामी गाथाओं में समझाया जायेगा।।४।।

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा के भाव का पोषक एक कलशरूप काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मन्दाक्रान्ता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा।
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभि: प्रोक्तमेतद्।
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातु: स भव्य:।।११।।

(रोला)

रत्नत्रय की परिणति से परिणमित आतमा।
श्रमणजनों के लिए सहज यह मोक्षमार्ग है।।
दर्शन-ज्ञान-चरित आतम से भिन्न नहीं हैं।
जो जाने वह भव्य न जावे जननि उदर में।।११।।

शुद्धरत्नत्रय परिणति से परिणमित आत्मा महामुनियों के लिए मोक्ष का उपाय है; क्योंकि आत्मा से न तो ज्ञान अन्य है, न दर्शन अन्य है और न चारित्र ही अन्य है। ह्न यह बात मोक्ष को प्राप्त करनेवाले अरहंत भगवन्तों ने कही है। इसको जानकर जो जीव पुन: माता के उदर में नहीं जाता, वह भव्य है।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०

इस कलश के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्यबिम्ब ज्ञानानन्द सूर्य भगवान आत्मा है; उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणतारूप परिणमित आत्मा ही मोक्ष का उपाय है; रत्नत्रय रूप परिणमित आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है।

ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है; जो सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ वह आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा स्वयं तद्रूप परिणमित हो गया है। सम्यग्दर्शन भी आत्मा से भिन्न नहीं, वह भी आत्मा में अभेद है और शील अर्थात् सम्यक्चारित्र भी इस आत्मा से भिन्न नहीं है अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आत्मा में अभेद हैं, इस आत्मा से भिन्न नहीं हैं। रत्नत्रयरूप से जो आत्मा परिणमित हुआ वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

निजात्मा की ओर झुकाव करके जो प्रतीति, ज्ञान और रमणता हुई, वही मोक्षमार्ग है।

मोक्ष को प्राप्त ऐसे भगवान अरहन्त परमात्मा ने तो ऐसा मोक्षमार्ग कहा है। यह बात समझकर अन्तर में परिणमन करना योग्य है। अन्तरंग में प्रथम विश्वास आना चाहिए। एक समय में तीन काल तीन लोक के ज्ञाता सर्वज्ञ हैं ह्न ऐसी भी जिसे प्रतीति न हो, उसे तो ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता हो ही नहीं सकती।[१]

देखो तो सही, अन्दर के उत्साह को। यहाँ तो कहते हैं कि जो जीव ऐसा समझ कर पुन: नवीन माता के पेट में अवतरित नहीं होता, उसे हम भव्य कहते हैं। यहाँ साधारण भव्य की बात नहीं ली; किन्तु जिसने अन्दर में चैतन्य का निर्णय करके भवभ्रमण का नाश किया है, जो जीव अल्पकाल में ही मोक्ष जानेवाला है, उसे ही भव्य के रूप में लिया है।

भगवान ने जो शुद्ध मोक्षमार्ग कहा है, वैसे मोक्षमार्ग को जानो तो सही। अन्दर चैतन्यस्वभावी कारणपरमात्मा विराजमान है, उसकी श्रद्धा-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५३-५४

ज्ञान-रमणता ही मोक्ष का उपाय है ह्न प्रथम ऐसा निर्णय तो करो। ऐसा निर्णय जो करेगा, वह भी अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि अभेदरत्नत्रयरूप परिणमित आत्मा मोक्ष का उपाय है। जो जीव अरहंत भगवान द्वारा कही गई इस बात का विश्वास करता है और तदनुरूप परिणमित होता है, उसे बार-बार माता के उदर में नहीं जाना पड़ेगा, वह दो-चार भव में ही मोक्ष में चला जायेगा।

तात्पर्य यह है कि ऐसे जीव निकटभव्य होते हैं।।११।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५४

मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्त्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्म साधना में भी बाधा पड़ेगी। अत: वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा ? बस, एक ग्रास ही न ? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है।

भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६०**

नियमसार गाथा ५

निश्चयरत्नत्रय का निरूपण करने के उपरान्त अब इस गाथा में व्यवहार सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगय असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।।५।।

(हरिगीत)

इन आप्त-आगम-तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
सम्पूर्ण दोषों से रहित अर सकल गुणमय आप्त है।।५।।

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है और जिसके सम्पूर्ण (अठारह) दोष दूर हो गये हों; सम्पूर्ण गुणों का धारी वह पुरुष आप्त होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप का व्याख्यान है।

सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादि भावों को शंका कहते हैं और शंका रहित व्यक्ति को आप्त कहते हैं।

आप्त के मुखारविन्द से निकली हुई, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ वचन रचना को आगम कहते हैं।

बहिर्तत्त्व और अन्तर्तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्व दो प्रकार के हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष के भेद से तत्त्व सात प्रकार के हैं।

उक्त आप्त, आगम और तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आप्त अर्थात् शंकारहित। यहाँ शंका में अठारह दोषों का समावेश कर दिया है। यहाँ शंका अर्थात् मात्र दर्शनमोह नहीं, अपितु रागादि सभी भावों को शंका में गर्भित किया है; क्योंकि जहाँ रागादि भाव हैं, वहाँ स्थिरता नहीं है, **स्थिरता के अभाव को यहाँ शंका कहा है।**

ऐसी शंका का जिसके अत्यन्ताभाव है अर्थात् मोह-राग-द्वेषादि दोषों से जो सम्पूर्णत: रहित है, वही आप्त है।[१]

समस्त पदार्थों को समझाने में निमित्त होने की सामर्थ्य सर्वज्ञ की वाणी में है। सर्वज्ञ का ज्ञान परिपूर्ण जानता है और वाणी परिपूर्ण कथन करती है। उस वाणी को आगम कहते हैं, उसकी श्रद्धा व्यवहार-सम्यक्त्व है।[२]

मोक्षमार्गप्रकाशक में नवतत्त्व की श्रद्धा को निश्चयसम्यक्त्व कहा है और यहाँ उसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व ऐसे दो भेदवाली श्रद्धा को भी व्यवहारसम्यक्त्व कहा है।

यहाँ तो अभेद दृष्टि की प्रधानता से कथन है और वहाँ ज्ञान की प्रधानता से कथन है। ज्ञान में विकल्प टूट कर सम्पूर्ण जानने में आ गया है, इस अपेक्षा से नव तत्त्व की श्रद्धा को भी निश्चयसम्यक्त्व कहा है; परन्तु वहाँ भी ऐसे अभेद स्वभाव की श्रद्धापूर्वक नव तत्त्व के ज्ञान की बात है। अभेद की श्रद्धा के बिना अकेले भेद के ज्ञान को सम्यक्त्व नहीं कहा है।[३]

अनन्त केवली और सिद्ध इस आत्मा से पर होने से वे सब बहिस्तत्त्व हैं और अपने में मोक्षपर्याय का भेद करना, वह भी बहिस्तत्त्व है।

अकेला निरपेक्ष कारण परमात्मतत्त्व ही अन्तस्तत्त्व है। इसके अलावा भेद या विकल्प उठे, वह समस्त बहिस्तत्त्व है। सर्वज्ञ ने ऐसे दो प्रकार के तत्त्व कहे हैं।[४]

प्रथम ही तत्त्व के अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व ऐसे दो भेद किये;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७
२. वही, पृष्ठ ५८
३. वही, पृष्ठ ५८-५९
४. वही, पृष्ठ ५९

अब विशेष रूप से उसके सात प्रकार कहते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ह्न ऐसे सात तत्त्व हैं; उनकी श्रद्धा व्यवहार-श्रद्धा है।[१]

संक्षेप में कहो तो दो तत्त्व हैं ह्न अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व। यदि विस्तार से कहो तो सात तत्त्व हैं ह्न जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें जो अन्तस्तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व कहा, वह तो शुद्ध जीवतत्त्व है और शेष छहों तत्त्व बहिस्तत्त्व हैं। इन सब की रागवाली श्रद्धा वह व्यवहार श्रद्धा है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। जन्म, जरा आदि अठारह दोषों से रहित और वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणों के धारी अरहंत-सिद्ध ही सच्चे आप्त (देव) हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और रत्नकरण्डश्रावकाचार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ उक्त दोनों बातों को मिलाकर आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कह दिया है।

देव-शास्त्र-गुरु और सप्त तत्त्व, पर और भेदरूप होने से इनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है।।५।।

इस गाथा की टीका के उपरान्त भी टीकाकार भगवान की भक्ति की प्रेरणा देनेवाला एक कलशकाव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि।।१२।।

(दोहा)

भवभयभेदक आप्त की भक्ति नहीं यदि रंच।
तो तू है मुख मगर के भवसागर के मध्य।।१२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६० २. वही, पृष्ठ ६१-६२

भव के भय का भेदन करनेवाले इस भगवान के प्रति तुझे भक्ति नहीं है तो तू भवसमुद्र के मध्य रहनेवाले मगर के मुख में है।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''एक तरफ तो भव-भय रहित होने की बात की और उसके समक्ष भव-समुद्र की बात की। जो सर्वज्ञ भगवान को पहिचान कर, उनके प्रति भक्तिपूर्वक, सर्वज्ञ ने जो कहा है, उसे पहिचाने तो उसके भव-भय का छेद हो जाता है।

भगवान किसी के ऊपर प्रसन्न होकर किसी का भव-भेदन नहीं करते; परन्तु जब किसी ने आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके अपने आत्मा की प्रसन्नता प्रकट की, तब आरोप में कहा जाता है कि भगवान उसके ऊपर प्रसन्न हुए।

भगवान द्वारा कथित तत्त्वों को जो पहचानता नहीं, उसके चौरासी के भ्रमण का अन्त नहीं आता। पुण्य-पाप से पार चैतन्यस्वभाव को पहचानना ही भगवान की परमार्थ भक्ति है; यदि ऐसी भक्ति करे तो भव का नाश अवश्य हो।[१]''

इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि यदि तेरे हृदय में भवभयनाशक भगवान की भक्ति नहीं है तो तू यह अच्छी तरह समझ लें कि तू संसार सागर में रहनेवाले मगरमच्छ के मुख में है।।१२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६५

मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्धर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६२

नियमसार गाथा ६

पाँचवीं गाथा की दूसरी पंक्ति में कहा था कि आत्मा सम्पूर्ण (अठारह) दोषों से रहित होता है; अत: अब इस छठवीं गाथा में उक्त अठारह दोषों को गिना रहे हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद महो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो।।६।।

(हरिगीत)

भय भूँख चिन्ता राग रुष रुज स्वेद जन्म जरा मरण।
रति अरति निद्रा मोह विस्मय खेद मद तृष दोष हैं।।६।।

क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निन्दा, जन्म और अरति ह्न ये अठारह दोष हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अठारह दोषों के स्वरूप का कथन है।

१. असाता वेदनीय कर्म के उदय से होनेवाले भोजन की तीव्र अथवा मंद इच्छारूप क्लेशभाव को क्षुधा कहते हैं।

२. असाता वेदनीय के उदय से तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर पानी पीने की इच्छाजन्य पीड़ा को तृषा कहते हैं।

३. इसलोक का भय, परलोक का भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिक भय ह्न इसप्रकार ये सात प्रकार के भय हैं।

४. क्रोधी पुरुष के तीव्र परिणाम को रोष कहते हैं।

५. राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है। दान, शील, उपवास, गुरुजनों की वैयावृत्ति (सेवा) आदि से उत्पन्न होनेवाला राग प्रशस्त राग है और स्त्री, राज, चोर और भोजन संबंधी विकथायें करने और सुनने का कौतुहल परिणाम अप्रशस्त राग है।

६. प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से मोह भी दो प्रकार का होता है। ऋषि, मुनि, यति और अनगार ह्न इन चार प्रकार के श्रमण संघ के प्रति वात्सल्य संबंधी मोह प्रशस्त मोह है और इनसे भिन्न व्यक्तियों या वस्तुओं से किया गया मोह अप्रशस्त मोह है।

ऋद्धिधारी श्रमणों को ऋषि; अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञानी श्रमणों को मुनि; उपशम व क्षपक श्रेणी में आरूढ़ श्रमणों को यति और सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं।

७. चिन्ता अर्थात् चिंतन भी प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप चिन्तन प्रशस्त है और आर्तध्यान और रौद्रध्यानरूप चिन्तन अप्रशस्त है।

८. तिर्यंचों और मनुष्यों की उम्र की अधिकता के कारण होनेवाली शरीर की जीर्णता को जरा (बुढ़ापा) कहते हैं।

९. वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होनेवाली शरीर संबंधी पीड़ा को रुजा या रोग कहते हैं।

१०. सादि-सनिधन, मूर्त इन्द्रियवाली विजातीय नरनारकादि विभाव व्यंजनपर्याय का विनाश ही मृत्यु है।

११. अशुभकर्मोदय से उत्पन्न शारीरिक श्रम से उत्पन्न होनेवाला दुर्गंधित जलबिन्दुओं का समूह स्वेद (पसीना) है।

१२. अनिष्ट के लाभ से उत्पन्न होनेवाला भाव खेद है।

१३. सर्व जनों के कानों में अमृत उडेलनेवाला सहज चतुराई से भरा कवित्व, सुन्दर शरीर, उत्तम कुल, बल तथा ऐश्वर्य के कारण उत्पन्न होनेवाला अहंकार ही मद है।

१४. मनोज्ञ वस्तुओं में परम प्रीति ही रति है।

१५. परमसमररसीभाव की भावना रहित जीवों को, पहले कभी नहीं देखने के कारण होनेवाला भाव विस्मय (आश्चर्य) है।

१६. शुभकर्म से देवपर्याय में, अशुभकर्म नारकपर्याय में, माया से

तिर्यंचपर्याय में और शुभाशुभ मिश्रकर्म से मनुष्यपर्याय में उत्पन्न होना जन्म है।

१७. दर्शनावरणी कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है।

१८. इष्ट के वियोग में घबराहट का होना ही उद्वेग है।

यद्यपि इन अठारह दोषों से तीन लोक व्याप्त है अर्थात् तीनलोक में रहनेवाले सभी संसारी जीव उक्त अठारह दोषों से ग्रस्त हैं; तथापि वीतरागसर्वज्ञदेव इन दोषों से विमुक्त हैं।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वीतराग सर्वज्ञ के, द्रव्य-भाव घातिया कर्मों का अभाव होने से ह्न भय, रोष, रोग, मोह, शुभाशुभ चिन्ता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेगादि कहाँ से होंगे ?

केवली भगवान के समुद्र जैसे सातावेदनीय कर्मोदय के मध्य, बिन्दुवत् असातावेदनीय कर्म का उदय होता है; वह असाता भी मोहनीय कर्म के अत्यन्ताभाव में, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषा का निमित्त नहीं होती; क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीय कर्म का उदय हो तो भी वह मोहनीय कर्म के अभाव में किंचित् भी दु:ख नहीं दे सकता। तो फिर यहाँ तो अनन्त गुणे सातावेदनीय कर्म के मध्य, अल्पमात्र (अविद्यमान जैसा) असातावेदीनय कर्म वर्त रहा है; अत: क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं हो सकती। क्षुधा-तृषा के सद्भाव में अनन्तवीर्य इत्यादि कैसे सम्भव होंगे ?

इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञ के क्षुधा-तृषा असंभव होने से कवलाहार भी नहीं होता। कवलाहार बिना भी उनके (अन्य मनुष्यों को जो असंभव है ह्न ऐसा) सुगंधित, सप्तधातुरहित, परमौदारिक शरीररूप नोकर्माहार के योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं, जिनसे शरीर स्थित रहता है।

जिसे भूख लगे और जो भोजन करे, उसे भगवान नहीं कहते।

भगवान के प्रतिक्षण पुण्य के उदय से अमुक प्रकार के ऐसे रजकण आते हैं कि जिनसे शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। इन्द्र को रोग नहीं होता और हजारों वर्ष बाद आहार की वृत्ति होती है; तो इन्द्र के द्वारा पूज्य ऐसे सर्वज्ञ भगवान को रोग या आहार हो ह्न यह कैसे संभव है ?

भगवान के तो क्षुधा, रोग या आहारादि कोई दोष होते ही नहीं। उनके वेदनीय कर्म है; परन्तु मोह नहीं है। अर्थात् मोह के बिना वह वेदनीय कर्म जली जेवरी के समान है और क्षुधा-तृषा उत्पन्न करने में असमर्थ है।[१]

पवित्रता और पुण्य का ऐसा संबंध होता है अर्थात् घातिया कर्मों के अभाव का और शेष रहे हुए अघातिया कर्मों का ऐसा सहज संबंध होता है कि वीतराग-सर्वज्ञ के उन अघातिया कर्मों के फलरूप परमौदारिक शरीर में जरा, रोग और स्वेद नहीं होता।

केवली भगवान के भवान्तर में उत्पत्ति के निमित्तभूत, शुभाशुभ भाव नहीं होने से, जन्म भी नहीं होता और जिस देह-विलय के बाद भवान्तरप्राप्तिरूप जन्म नहीं होता, उस देह-वियोग को मरण भी नहीं कहा जाता।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंतदेव के उक्त अठारह दोष नहीं होते; अत: वे पूर्णत: निर्दोष हैं।।६।।

छठवीं गाथा की उक्त टीका लिखने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभ-मलधारिदेव **'तथा चोक्तम्** ह्न तथा कहा भी गया है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो।।१।।

(दोहा)

जहाँ दया वह धर्म है जहाँ न विषय विकार।
वह तप ठारह दोष बिन देव होंय अवधार।।१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ७९-८० २. वही, पृष्ठ ८०

वह धर्म है, जहाँ दया है; वह तप है, जहाँ विषयों का निग्रह है और वह देव है, जो अठारह दोषों से रहित है ह्न इस संबंध में कोई संदेह नहीं है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है ह्न

''राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना ही आत्मा की हिंसा है और चैतन्यस्वभाव का भान करके राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति ही न होने देना ह्न उसका नाम दया है। अपने आत्मा को हिंसा के भावों से बचाना ही दया है। पर को तो कोई मार या बचा ही नहीं सकता। अपने शुद्ध चैतन्य की, कषाय भाव से हिंसा न होने देना, वही दया धर्म है।

चैतन्य के भान में एकाग्र होने पर जहाँ विषयों का निग्रह हो जाता है, उसका नाम तप है। जो क्षुधादिक अठारह दोषों से रहित है, वही देव है, इस बात में संशय नहीं है।

ऐसे अठारह दोषों से रहित निर्दोष परमात्मा को पहचान कर उनकी श्रद्धा करना योग्य है।[१]''

स्वामीजी के उक्त कथन में निश्चय दया और निश्चय तप के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है; जो इस अध्यात्म ग्रन्थ के अनुरूप ही है।।१।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्री विद्यानंदस्वामिभि: ह्न** तथा आचार्य श्री विद्यानंदस्वामी द्वारा भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर टीका में एक छन्द प्रस्तुत किया गया है; जो मूलत: इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय: सुबोध:
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै:
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति।।२।।

(रोला)

इष्ट अर्थ की सिद्धि होती है सुबोध से।
अर सुबोध उपलब्धी होती है सुशास्त्र से।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८१

और आप्त से शास्त्र पूज्य हैं आप्त इसलिये।
किया गया उपकार संतजन कभी न भूलें।।२।।

अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध (सम्यग्ज्ञान) है; सुबोध सुशास्त्र से प्राप्त होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है।

आप्त की कृपा के कारण, बुधजनों के लिए वे आप्त पूज्य हैं; क्योंकि किये हुए उपकार को सज्जन पुरुष कभी नहीं भूलते।

इस छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं ह्न

''जिसमें चैतन्य के परम आनन्द की प्राप्ति हो, हमें तो ऐसी मुक्तदशा ही इष्ट है। पुण्य बंध हो और स्वर्ग का इन्द्र पद मिले, उसको धर्मी जीव अपना इष्टफल नहीं मानता। जिसे आत्मा की रुचि है, उसको तो मुक्तदशा ही इष्टफल है। मुक्ति के अलावा जिसे कोई भी परवस्तु इष्ट लगे, अच्छी लगे, उसे मोक्ष इष्ट नहीं है; किन्तु संसार ही इष्ट है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। हमारा श्रेष्ठतम इष्टफल तो मोक्ष पद है और उसकी प्राप्ति का उपाय सुबोध है। चैतन्यस्वभाव का सम्यग्ज्ञान किये बिना लाख उपायों से भी मुक्ति प्राप्त होनेवाली नहीं।[१]

परम इष्ट ऐसी मुक्ति वह सर्वज्ञ देव की कृपा का ही फल है; क्योंकि सर्वज्ञदेव से ही शास्त्र की उत्पत्ति होती है, शास्त्र से ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

इस भांति मोक्ष का बीज सर्वज्ञ ही है, इसलिए वह सर्वज्ञदेव ही बुध पुरुषों से पूजने योग्य है, कारण कि किये हुए उपकार को सज्जन वृन्द भूलते नहीं। स्वयं जबतक राग की भूमिका में है, तबतक उपकारी के प्रति बहुमान और भक्ति का भाव आये बिना रहता ही नहीं।[२]''

उक्त छन्द का अत्यन्त स्पष्ट अभिप्राय यह है कि आप्त अर्थात् वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान की वाणी ही सुशास्त्र हैं; अत: उनसे ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान हमारे

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८२
२. वही, पृष्ठ ८३

पूज्य हैं, हमें उनकी पूजा, स्तुति, वंदना अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वे हमारे उपकारी हैं और सज्जन पुरुष कृतघ्न नहीं होते, अपितु कृतज्ञ होते हैं।

किये गये उपकार को सच्चे हृदय से स्वीकार करना कृतज्ञता है और उसे भूल जाना कृतघ्नता है।

'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति' ह्न यह सूक्ति संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है।।२।।

उक्त छन्द के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

शतमखशतपूज्य: प्राज्यसद्बोधराज्य:
स्मरतिरसुरनाथ: प्रास्तदुष्टाघयूथ:।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमि:।।१३।।

(रोला)

शत इन्द्रों से पूज्य ज्ञान साम्राज्य अधपती।
कामजयी लौकान्तिक देवों के अधिनायक।।
पाप विनाशक भव्यनीरजों के तुम सूरज।
नेमीश्वर सुखभूमि सुक्ख दें भवभयनाशक।।१३।।

सौ इन्द्रों से पूज्य, सम्यग्ज्ञानरूप विशाल राज्य के अधिपति, काम-विजयी लौकान्तिक देवों के नाथ, दुष्ट पाप के नाशक, श्रीकृष्ण द्वारा पूजित, भव्यरूपी कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य और आनन्द की भूमिरूप नेमिनाथ भगवान हमें शाश्वत सुख प्रदान करें।

उक्त छन्द में भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है। टीका के बीच में आनेवाले इस स्तुतिपरक छन्द को हम मध्यमंगल के रूप में देख सकते हैं।।१३।। ●

नियमसार गाथा ७

विगत गाथा में जिन अठारह दोषों की चर्चा की गई है, अब इस गाथा में उक्त दोषों से रहित परमात्मा का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।।७।।

(हरिगीत)

सम्पूर्ण दोषों से रहित सर्वज्ञता से सहित जो।
बस वे ही हैं परमातमा अन कोई परमातम नहीं।।७।।

जो नि:शेष अर्थात् अठारह दोषों से रहित और केवलज्ञानादि परम वैभव से संयुक्त है; वह परमात्मा है और उससे विपरीत परमात्मा नहीं है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का कथन है। आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ह्न इन चार घातिया कर्मों का पूर्णत: नाश कर देने के कारण जो सम्पूर्ण दोषों से रहित हैं अथवा पूर्वसूत्र छटवीं गाथा में कहे गये अठारह महादोषों के निर्मूल कर देने के कारण जिन्हें निश्शेषदोष रहित कहा गया है और जो केवलज्ञान, केवलदर्शन एवं परम वीतरागात्मक आनन्दादि विविध वैभव से सम्पन्न हैं; तथा जो त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द, एकस्वरूप, निज-कारणपरमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्यपरमात्मा हैं; वे भगवान ही अरहंत परमेश्वर हैं।

इन भगवान अरहंत परमेश्वर से विपरीत गुणोंवाले लोग देवत्व के अभिमान से दग्ध होने पर भी परमात्मा नहीं हैं, संसारी ही हैं ह्न ऐसा गाथा का अर्थ है।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''अहो ! यहाँ तो कार्यपरमात्मा के साथ कारणपरमात्मा को भी सम्मिलित कर लिया है। **ध्रुव और वर्तमान ह्न इन दोनों की सन्धि रखी है। ध्रुव वह कारण और वर्तमान वह कार्य ह्न ऐसे कारण-कार्य को साथ-साथ ही रखा है। जो ध्रुव-अचल-ज्ञायक एकरूप नित्यस्वभाव है; वह कारणपरमात्मा है। त्रिकाली आत्मद्रव्य नित्य आनन्दरूप है और वही कारणपरमात्मा है तथा उसमें श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने का नाम ही कारणपरमात्मा की भावना है। ऐसी भावना से ही भगवान कार्यपरमात्मा हुए हैं। कारणपरमात्मा त्रिकाल है और उस कारण-परमात्मा के आश्रय से कार्यपरमात्मारूप नई दशा प्रकट होती है।**[१]

प्रत्येक आत्मा की जो ध्रुव त्रिकाल शक्ति है; वही निजकारण-परमात्मा है और उसी के आश्रय से कार्यपरमात्मारूप दशा प्रकट होती है। अरहंत को पहचाना और उनका कारण भी पहचाना। अरहंत वह कार्यपरमात्मा हैं, उनके सामने कारणपरमात्मा का वर्णन किया। कार्य के साथ ही कारण भी बताया, ऐसी टीकाकार की शैली है।

पहले कार्यनियम के साथ कारणनियम त्रिकाल एकरूप बताया था। यहाँ कार्यपरमात्मा का वर्णन है तो उसके समक्ष त्रिकाली कारण-परमात्मा का स्वरूप भी बताया।

कारणपरमात्मा अर्थात् शक्ति और कार्यपरमात्मा अर्थात् व्यक्ति। शक्ति में से ही व्यक्ति होती है।[२]

यहाँ कहते हैं कि अन्तर के ध्रुव कारणपरमात्मा में से कार्य प्रकट होता है। कारणपरमात्मा की भावना ही परमात्मदशा प्रकट करने का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। कार्य को जानने पर उसके ऐसे कारण की प्रतीति भी साथ में होना चाहिए। जो ऐसे कारण को न जाने और बाहर के कारण से केवलज्ञानरूपी कार्य होना माने, उसने तो कार्य

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९०　　२. वही, पृष्ठ ९१

को भी नहीं जाना और कारण को भी नहीं जाना। कार्य की पहचान में, कारण की पहचान भी गर्भित है। ऐसे कारणपरमात्मा की प्रतीति सहित केवली भगवान को माने तो ही केवली भगवान को वास्तव में पहचाना कहा जाय।

यहाँ अरहंत भगवान के स्वरूप की पहचान करवा रहे हैं। अरहंतदेव को पहचाने बिना 'णमो अरिहंताणं' कहे तो इससे धर्म का लाभ नहीं हो सकता। जिसे अरहन्त के गुणों की पहचान नहीं; उसे अपना आत्मा कैसा होता है ह्न इसकी भी पहचान नहीं हो सकती। भान बिना स्मरण करे तो शुभभाव से पुण्य तो होगा, परन्तु धर्म नहीं होगा।[१]

देखो ! यह है जैनदर्शन। जैनदर्शन तो वस्तुस्वभाव का दर्शन है। जैसा वस्तुस्वभाव है, वैसा ही सर्वज्ञ ने जाना और वैसा ही उनकी वाणी में कहा गया। जैनदर्शन कोई सम्प्रदाय, बाड़ा या कल्पना नहीं है। यह तो सर्वज्ञ का मार्ग है। जिसे इन्द्र भी मानते हैं, गणधर भी जिसका आदर करते हैं, चक्रवर्ती भी जिसकी सेवा करते हैं, सन्त जिसका अनुभव करते हैं ह्न ऐसा यह अनादि-अनन्त मार्ग है। जो अनन्त तीर्थंकर हुए और होंगे उन सबका यही मार्ग है।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही कहा गया है कि अठारह दोषों से रहित वीतरागी एवं केवलज्ञानादि वैभव से संयुक्त अर्थात् अनंत सुखी सर्वज्ञ भगवान ही अरहंत परमात्मा हैं, सच्चे देव हैं।

उक्त गुणों से रहित और दोषों से संयुक्त होने पर भी स्वयं को देव माननेवाले लोग सच्चे देव नहीं हैं।

टीका में एक बात और भी स्पष्ट की गई कि अरहंत भगवान कार्यपरमात्मा हैं और जिस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से, उसमें लीन होने से आत्मा कार्यपरमात्मा बनता है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं।।७।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः** ह्न तथा कुन्दकुन्दाचार्य

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ९२-९३　　२. वही, पृष्ठ ९४

देव ने भी कहा है' ह्न ऐसा कहकर एक गाथा उद्धृत की है, जो इस प्रकार है ह्न

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।।३।।[1]

(हरिगीत)

प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं।
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरहंत हैं।।३।।

जिनका तेज, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अतीन्द्रियसुख, देवत्व और जिनकी ईश्वरता, ऋद्धियाँ, तीन लोक में प्रधानपना और विशेष महिमा है; वे भगवान अरहंत हैं।।३।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः** ह्न तथा श्रीमद् आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है' ह्न ऐसा कहकर आत्मख्याति में समागत एक कलश उद्धृत किया है; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दामहस्विनां जनमनो मृष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।४।।[2]

(हरिगीत)

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से।
जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से।।
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें।
उन सहस अठलक्षण सहित जिन-सूरि को वन्दन करें।।४।।

वे तीर्थंकर और आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं; अपने तेज से

१. प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत गाथा ७१
२. समयसार : कलश २४

उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिक को भी ढक देते हैं; अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते हैं, हर लेते हैं; अपनी दिव्यध्वनि से भव्यजीवों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।।४।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें भगवान नेमिनाथ की स्तुति की गई है ह्न

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम्।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम्।।१४।।

(रोला)

अलिगण स्वयं समा जाते ज्यों कमल पुष्प में।
त्यों ही लोकालोक लीन हों ज्ञान कमल में।।
जिनके उन श्री नेमिनाथ के चरण जजूँ मैं।
हो जाऊँ मैं पार भवोदधि निज भुजबल से।।१४।।

जिसप्रकार कमल के भीतर भ्रमर समा जाते हैं; उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में लोक और अलोक समा जाते हों, स्पष्टरूप से ज्ञात होते हों; उन नेमिनाथ तीर्थंकर भगवान को मैं पूजता हूँ; जिससे ऊँची तरंगों वाले संसार समुद्र को भी दो भुजाओं से पार कर लूँ।

७वीं गाथा में तीर्थंकर परमदेव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसकारण टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने तीर्थंकर परमदेव की जिसमें स्तुति की गई है ह्न ऐसी प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा और समयसार की टीका के कलश को उद्धृत किया है।

नेमिनाथ तीर्थंकर परमदेव की स्तुति संबंधी एक छन्द स्वयं लिखकर अपनी भक्ति-भावना प्रस्तुत की है।।१४।। ●

नियमसार गाथा ८

विगत गाथाओं में सच्चे देव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में शास्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ।।८।।

(हरिगीत)

पूरवापर दोष विरहित वचन जिनवर देव के।
आगम कहे है उन्हीं में तत्त्वारथों का विवेचन॥८॥

उस सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा के मुख से निकली हुई, पूर्वापर दोष से रहित, शुद्ध वाणी ही आगम कही जाती है और उस आगम में तत्त्वार्थों का निरूपण होता है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमागम के स्वरूप का व्याख्यान है। जिनकी चर्चा विगत गाथाओं में की गई है; उन परमेश्वर के मुख से निकली हुई पूर्वापर दोष (विरोध) रहित और उन भगवान के राग का अभाव होने से पाप सूत्र के समान हिंसादि पाप क्रियाओं से शून्य होने से जो शुद्ध है; चतुराई भरी उस वचन रचना के विस्तार को परमागम कहा गया है।

जो भव्यजीवों के द्वारा कानरूपी अंजुली से पीनेयोग्य अमृत है, मुक्ति सुन्दरी के मुख का दर्पण है, जो भवसागर के महाभंवर में निमग्न समस्त भव्यजनों को हाथ का सहारा देता है, जो सहजवैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है, जो कभी न देखे गये मोक्षमहल की पहली सीढी है और जो काम-भोगों से उत्पन्न होनेवाले अप्रशस्त रागरूप अंगारों से सिकते (जलते) हुए सभी दीन लोगों के महाक्लेश

का नाश करने में समर्थ सजलमेघ अर्थात् पानी से भरा हुआ बादल है; उस परमागम में सात तत्त्व और नौ पदार्थ कहे गये हैं, बताये गये हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'''सर्वज्ञदेव कथित वाणी ही निर्दोष और शुद्ध है। वह वाणी ही तत्त्वार्थ का कथन करती है। सप्त तत्त्व एवं द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि तत्त्वार्थों को वीतराग वाणी ही कहती है। इन सबका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं भी नहीं है। ऐसे आगम को पहचाने बिना हर किसी के लिखे हुए कुशास्त्र को माने तो उसे आगम की व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है।

सर्वज्ञदेव ने जो परमागम कहा और जो सन्तों की परम्परा में चला आया है, वही सच्चा परमागम है। ऐसा परमागम ही तत्त्वार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने में समर्थ है, अन्य नहीं।[१]

सात तत्त्वों में अथवा नव पदार्थों में सम्पूर्ण जगत आ जाता है और सर्वज्ञ की वाणी उन सबका कथन करनेवाली है। ऐसे सर्वज्ञ को, उनकी वाणी को और उनके कहे हुए तत्त्वों को पहचानना चाहिए; क्योंकि उनकी पहचान के बिना धर्म नहीं होता।[२]''

उक्त गाथा में जिनागम, परमागम या जिनवाणी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिन कथनों में पूर्वापर विरोध न हो, जिनमें पाप क्रिया का निषेध किया गया हो; जीवादि तत्त्वार्थों का विवेचन करने वाले उन निर्दोष आप्तवचनों को परमागम कहते हैं।

उन वचनों की विशेषता बताते हुए टीका में कहा गया है कि तत्त्वार्थों के निरूपक वे वचन मोक्षमहल की पहली सीढी हैं, वैराग्यरूपी महल के शिखामणि हैं, भवसागर में निमग्न भव्यजीवों के सहारे हैं, मुक्तिरूपी सुन्दरी के मुख के दर्पण हैं और राग के दावानल को बुझानेवाले जल से भरपूर भरे हुए बादल हैं। जिनेन्द्र भगवान के उक्त वचन ही परमागम हैं; इसकारण उक्त सभी विशेषण परमागम के बताये गये हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०३ २. वही, पृष्ठ १०७

इसप्रकार इस गाथा में जिनागम का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।।८।।

इसके बाद टीकाकार **'तथा चोक्तं श्री समन्तभद्रस्वामिभिः** ह्न तथा आचार्य समन्तभद्रस्वामी द्वारा भी ऐसा ही कहा गया है' ह्न ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।५।।[१]

(हरिगीत)

जो न्यूनता विपरीतता अर अधिकता से रहित है।
सन्देह से भी रहित है स्पष्टता से सहित है।।
जो वस्तु जैसी उसे वैसी जानता जो ज्ञान है।
जाने जिनागम वे कहें वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।५।।

जो न्यूनतारहित, अधिकतारहित और विपरीततारहित यथातथ्य वस्तुस्वरूप को निःसंदेहरूप से जानता है; उसे आगम के जानकार ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार के उक्त छन्द में सम्यग्ज्ञान का जो स्वरूप स्पष्ट किया गया है; उसमें इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जो वस्तु जैसी है; उसे न कम, न अधिक और न विपरीत; ठीक जैसी है, वैसी ही निःसंदेहरूप में जानना ही सम्यग्ज्ञान है।।५।।

इसके बाद टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जिसमें जिनागम (जिनवाणी-शास्त्र) की वन्दना की गई है।

छन्द मूलतः इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः।।१५।।

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द ४२

(हरिगीत)

मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं।
जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं।।
भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं।
मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं।।१५।।

जो जिनवचन ललित में ललित हैं, शुद्ध हैं, निर्वाण के कारण के कारण हैं, सभी भव्यजनों के कानो को अमृत हैं, भवरूपी अरण्य (भयंकर जंगल) के उग्र दावानल को शमन करने के लिए जल हैं और जो जैन योगियों से सदा वंद्य हैं ह्न ऐसे जिनभगवान के वचनों की मैं प्रतिदिन वंदना करता हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने न केवल रत्नकरण्डश्रावकाचार में समागत तत्संबंधित छन्द को उद्धृत किया, बल्कि एक छन्द स्वयं लिखकर भी उनके प्रति अपनी आस्था को व्यक्त कर दिया है।।१५।। ●

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अन्तर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

संयोग और संयोगी भावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अतः संयोगी भावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-३९

नियमसार गाथा ९

विगत गाथाओं में जिन (सच्चे देव) और जिनवचनों (सच्चे शास्त्रों) का स्वरूप स्पष्ट कर अब जिनदेव की दिव्यध्वनि में समागत तत्त्वार्थों की चर्चा आरंभ करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।९।।

(हरिगीत)

विविध गुणपर्याय से संयुक्त धर्माधर्म नभ।
अर जीव पुद्गल काल को ही यहाँ तत्त्वारथ कहा।।९।।

अनेक गुण-पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ह्न ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं।

ध्यान रहे, यहाँ छह द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहा गया है। जबकि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ह्न ये सात तत्त्व या तत्त्वार्थ कहे हैं।[१]

कहीं-कहीं उक्त सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ तत्त्व या तत्त्वार्थ कहे गये हैं।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव तो इस गाथा की टीका करते हुए पहली पंक्ति में इन्हें छह द्रव्य ही कहते हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में छह द्रव्यों के नाम पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण; मन, वचन, काय; आयु और श्वासोच्छ्वास नामक दश प्राणों से (संसार अवस्था में) जो जीता है, जियेगा और भूतकाल में जीता था; वह जीव है ह्न यह संग्रहनय का कथन है।

यह आत्मा निश्चयनय से भावप्राण (चेतना) धारण करने से जीव

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अध्याय १, सूत्र ४

है और व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों के धारण करने से जीव है।

शुद्ध (अनुपचरित) सद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने से कार्यशुद्धजीव है और अशुद्ध (उपचरित) सद्भूत व्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।

शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावगुणों का आधार होने के कारण कारणशुद्धजीव है।

यह (जीव) चेतन है, इसके चेतन गुण है; यह अमूर्त है, इसके अमूर्त गुण है; यह शुद्ध है, इसमें शुद्ध गुण है; यह अशुद्ध है, इसके अशुद्ध गुण है। पर्यायें भी इसीप्रकार हैं।

पुद्गल गलन-पूरन स्वभाववाला है। वह पुद्गल श्वेतादि वर्णों का आधारभूत होने से मूर्त है, इसके मूर्त गुण हैं। यह अचेतन है, इसके अचेतन गुण हैं।

स्वभावगतिक्रियारूप और विभावगतिक्रियारूप परिणत जीव और पुद्गलों के स्वभावगति और विभावगति का निमित्त कारण धर्मद्रव्य है।

स्वभावस्थितिक्रियारूप और विभावस्थितिक्रियारूप परिणत जीव और पुद्गलों को स्वभावस्थिति और विभावस्थिति का निमित्त अधर्म द्रव्य है।

आकाश को छोड़कर शेष पाँच प्रकार के द्रव्यों को अवकाशदान (रहने के लिए स्थान देना) जिसका लक्षण है, वह आकाशद्रव्य है।

काल को छोड़ शेष पाँच द्रव्यों की वर्तना का निमित्त कालद्रव्य है।

जीव को छोड़कर चार अमूर्त द्रव्यों के शुद्ध गुण हैं और उनकी पर्यायें भी शुद्ध ही हैं।''

उक्त गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रत्येक जीव शक्ति अपेक्षा शुद्ध है अर्थात् सहज ज्ञानादिसहित है; अत: प्रत्येक जीव 'कारणशुद्धजीव' है। जो कारणशुद्धजीव की भावना

करता है, उसका ही आश्रय करता है, वह व्यक्ति (प्रगटता) अपेक्षा भी शुद्ध अर्थात् 'कार्यशुद्धजीव' (केवलज्ञानादिसहित) होता है।

शक्ति में से व्यक्ति होती है, अत: शक्ति कारण है और व्यक्ति (प्रगटता) कार्य है; ऐसा होने से शक्तिरूप शुद्धतावाले जीव को 'कारण-शुद्धजीव' कहते हैं और व्यक्त शुद्धतावाले जीव को 'कार्यशुद्धजीव' कहते हैं। कारणशुद्ध अर्थात् कारण अपेक्षा से शुद्ध, शक्ति अपेक्षा से शुद्ध। कार्यशुद्ध अर्थात् कार्य अपेक्षा से शुद्ध, व्यक्त अपेक्षा से शुद्ध।

जो त्रिकालचिदानन्द कारणशुद्धजीव की भावना करता है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान-रमण करता है, उस जीव को केवलज्ञानादि शुद्धकार्य प्रकट होते हैं अर्थात् वह कार्यशुद्धजीव हो जाता है।

सिद्ध भगवान तथा अरिहंत भगवान दोनों ही कार्यपरमात्मा हैं, उन्हें कार्यशुद्धजीव कहते हैं और उसके कारणरूप जो त्रिकालीस्वभाव एकरूप है, वह कारणपरमात्मा है, यहाँ उसे कारणशुद्धजीव कहते हैं।

जहाँ परमात्मा का वर्णन था, वहाँ परमात्मा में कारण-कार्य स्थापित किया था और यहाँ जीव का वर्णन है; अत: जीव में शुद्धकारण और शुद्धकार्य स्थापित किया है। कैसी अलौकिक और अपूर्व बात है।[१]

नवमीं गाथा में जो जीवादि छह द्रव्य बतलाये हैं, उनमें जीव का छह बोल से वर्णन किया ह्न

१. अनादि से संसारी जीव दश प्राणों से जीते हैं, इसलिए संग्रहनय से दशप्राणों से जीवे, वह जीव ह्न ऐसा कहा।

२. व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों से जीता है, वह जीव है।

३. निश्चयनय से वह जीव जड़प्राणों से रहित अपने चैतन्यप्राण से ही जीता है।

४. शुद्धसद्भूतव्यवहार से, आत्मा केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने से, उसको 'कार्यशुद्धजीव' कहा।

१. नियमसार प्रवचन, ११७-११८

५. जिसके अभी मतिज्ञानादि विभावगुण वर्त रहे हैं, किन्तु केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ है ह्न ऐसे साधक को 'अशुद्धजीव' कहा। अशुद्धसद्भूत-व्यवहार से आत्मा मतिज्ञानादि का आधार है; इसलिए वह अशुद्धजीव है। इसमें साधक को लिया।

जीव के वर्णन में; अनादि के अज्ञानी, साधक तथा पूर्णता को प्राप्त हो गए ह्न ऐसे सभी जीव आ जाने चाहिए; इसलिए यहाँ उनका वर्णन किया है।

६. शुद्धनिश्चयनय से केवलज्ञानादि कार्य प्रकट होने में कारणरूप जो त्रिकाल शक्तिस्वभाव है, वह 'कारणशुद्धजीव' है।

इसप्रकार छह बोलों से जीव की पहचान कराके पश्चात् शेष पाँच द्रव्यों की संक्षेप से पहचान करवाई।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि मूल गाथा में तो छह द्रव्यों के मात्र नाम गिनाकर इतना ही कहा गया है कि अनेकप्रकार के गुण और पर्यायों से संयुक्त इन छह द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहते हैं; किन्तु टीका में छह द्रव्यों को परिभाषित किया गया है। जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों कीं तो मात्र परिभाषायें ही दी गई हैं, किन्तु जीव के विविध नयों से भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं।

जीवद्रव्य के मूलत: दो भेद किये गये हैं ह्न शुद्धजीव और अशुद्धजीव। कारणशुद्धजीव और कार्यशुद्धजीव के भेद से शुद्धजीव भी दो प्रकार का बताया गया है।

पर और पर्यायों से भिन्न त्रिकाली ध्रुव आत्मा कारणशुद्धजीव है और उसमें अपनापन स्थापित करने से, उसी में जम जाने, रम जाने से जो अरहंत-सिद्धदशारूप पर्याय प्रगट होती है; उस पर्याय सहित आत्मा कार्यशुद्धजीव है।

मतिज्ञानादि पर्यायों से युक्त जीव अशुद्धजीव है।

इसके साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि संग्रहनय से जो जीता था, जीता है और जियेगा, वह जीव है; व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १३६-१३७

जीनेवाला संसारी जीव, जीव है और निश्चयनय से चेतना प्राण से जीनेवाला जीव, जीव है।।९।।

इसके उपरान्त टीकाकार एक कलशरूप काव्य लिखते हैं, जिसमें छह द्रव्यों को सही रूप में जानकर उनकी श्रद्धा करने का फल बताया गया है।

छन्द मूलत: इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं।
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप:।।१६।।

(रोला)

जिनपति द्वारा कथित मार्गसागर में स्थित।
अरे तेज के पुंज विविध विध किरणों वाले।।
छह द्रव्यों रूपी रत्नों को तीक्ष्णबुद्धि जन।
धारण करके पा जाते हैं मुक्ति सुन्दरी।।१६।।

जिनपति के मार्गरूपी सागर के मध्य में स्थित, तेज के अंबार के कारण किरणोंवाला षट् द्रव्य के समूहरूप रत्न को, जो तीक्ष्णबुद्धिवाला पुरुष हृदय में शोभा के लिए भूषण के रूप में धारण करता है; वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष अंतरंग में उक्त छह द्रव्यों की यथार्थ श्रद्धा करता है, वह मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण करता है।

इसप्रकार इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो भव्यजीव जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में समागत, जिनागम में निरूपित द्रव्यव्यवस्था या तत्त्वव्यवस्था को जानकर, उसकी श्रद्धा करता है और तदनुसार आचरण करता है; वह भव्यजीव अतिशीघ्र मुक्ति दशा को प्राप्त करता है।।१६।। ●

नियमसार गाथा १०

नौंवीं गाथा में छह द्रव्यों की सामान्य चर्चा की; अब इस गाथा में जीवद्रव्य की चर्चा विस्तार से करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति।।१०।।

(हरिगीत)

जीव है उपयोगमय उपयोग दर्शन ज्ञान है।
स्वभाव और विभाव इस विधि ज्ञान दोय प्रकार है।।१०।।

जीव उपयोगमय और उपयोग ज्ञान और दर्शन हैं। इनमें ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में उपयोग का लक्षण कहा गया है। चैतन्य का अनुसरण करके वर्तनेवाला आत्मा का परिणाम उपयोग है। उपयोग धर्म और जीव धर्मी है। धर्म और धर्मी में प्रकाश और दीपक जैसा संबंध है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग दो प्रकार का है। इसमें ज्ञानोपयोग भी स्वभावज्ञानोपयोग और विभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

इनमें स्वभावज्ञानोपयोग अमूर्त, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी है। वह स्वभावज्ञानोपयोग कारणस्वभावज्ञानोपयोग और कार्यस्वभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग तो सम्पूर्णत: निर्मल केवलज्ञान है और उसका कारण परमपारिणामिकभावरूप से स्थित त्रिकाल निरुपाधिक सहजज्ञान कारणस्वभावज्ञानोपयोग है।

कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ह्न ये तीन ज्ञान केवल (मात्र) विभावरूप हैं अर्थात् विभावज्ञानोपयोगरूप हैं।

इन उपयोग के भेदरूप ज्ञान के भेदों को आगे दो गाथा सूत्रों में कहा जायेगा; अत: उन्हें विशेषरूप से वहाँ से जानना चाहिए।''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि जीव उपयोगमय है और उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। ज्ञानोपयोग भी स्वभावज्ञानोपयोग और विभावज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है; किन्तु टीकाकार न केवल इन सभी का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, अपितु यह भी कह देते हैं कि उपयोग के शेष भेदों को आगामी दो गाथाओं में समझायेंगे।।१०।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा।
परिहृतपरभाव: स्वस्वरूपे स्थितो य:।।
सपदि विशति यत्तच्चिमत्कारमात्रं।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप:।।१७।।

(रोला)

जिनपति द्वारा कथित ज्ञान के भेद जानकर।
परभावों को त्याग निजातम में रम जाते।।
कर प्रवेश चित्चमत्कार में वे मुमुक्षुगण।
अल्पकाल में पा जाते हैं मुक्तिसुन्दरी।।१७।।

जिनेन्द्रकथित समस्त ज्ञान के भेदों को जानकर जो पुरुष परभावों का परिहार करके निजस्वरूप में रहते हुए चैतन्यचमत्कार तत्त्व में शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाता है, उसकी गहराई में उतर जाता है; वह पुरुष मुक्ति सुन्दरी का पति हो जाता है।

इस कलश में मात्र इतना कहा गया है कि जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि में समागत उपयोग के भेद-प्रभेदों को भलीभांति जानकर निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करके अपने में ही स्थित हो जाते हैं, समा जाते हैं; वे भव्यजीव अतिशीघ्र मुक्त दशा को प्राप्त कर लेते हैं।।१७।। ●

नियमसार गाथा ११-१२

उपयोग के अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चा विगत गाथा में आरंभ की थी, अब इन गाथाओं में भी उसी चर्चा को आगे बढ़ाते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं।।११।।
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव।।१२।।

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय असहाय केवलज्ञान ज्ञान स्वभाव है।
सम्यक् असम्यक् पने से यह द्विविध ज्ञान विभाव है।।११।।
मतिश्रुतावधि मन:पर्यय चार सम्यग्ज्ञान हैं।
कुमति कुश्रुत अर कुवधि ये तीन मिथ्याज्ञान हैं।।१२।।

जो ज्ञान (केवलज्ञान) इन्द्रिय रहित और असहाय है; वह स्वभाव ज्ञान है। विभावज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यज्ञान के भेद से सम्यग्ज्ञान चार प्रकार का है और कुमति, कुश्रुत और कुवधि के भेद से मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का है।

इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ज्ञान के भेद कहे हैं। जो उपाधि से रहित होने से केवल (शुद्ध, मिलावटरहित) है; आवरणरहितस्वभाववाला होने से क्रम, इन्द्रिय और देश-कालादि के व्यवधान से रहित है; किसी भी वस्तु में व्याप्त नहीं होता, इसलिए असहाय है; वह कार्यस्वभावज्ञानोपयोग है।

कारणस्वभावज्ञानोपयोग अर्थात् सहजज्ञानोपयोग भी वैसा ही है;

क्योंकि वह निज परमात्मा में विद्यमान सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहज-सुख और सहजपरमचित्शक्तिरूप निजकारणसमयसार के स्वरूपों को युगपद् जानने में समर्थ है। इसप्रकार यह शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा गया।

अब शुद्धाशुद्धज्ञान का स्वरूप और भेद कहे जाते हैं। उपलब्धि, भावना और उपयोग के भेद से तथा अवग्रहादि के भेद से अथवा बहु, बहुविध आदि के भेद से मतिज्ञान अनेक भेदवाला है।

लब्धि और भावना के भेद से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है।

देशावधि, सर्वावधि और परमावधि के भेद से अवधिज्ञान तीन प्रकार का है।

ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मन:पर्ययज्ञान दो प्रकार का है।

परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टियों को ये चार सम्यग्ज्ञान होते हैं। मिथ्यादृष्टियों को होनेवाले मति, श्रुत और अवधिज्ञानों को क्रमश: कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि कहा जाता है।

उपर्युक्त ज्ञानों में सहजज्ञान, शुद्ध अन्त:तत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

'रूपिष्ववधे: ह्न अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है' ह्न ऐसा आगम का वचन होने से अवधिज्ञान विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है।

उसके अनंतवें भाग वस्तु के अंश का ग्राहक होने से मन:पर्ययज्ञान भी विकलप्रत्यक्ष (एकदेशप्रत्यक्ष) है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं।

दूसरी बात यह है कि उक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल कारण तो निज परमतत्त्व में स्थित एकमात्र सहजज्ञान ही है। पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण वह सहजज्ञान भव्यों का परमस्वभाव होने से एकमात्र उपादेय है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।

इस सहजचिद्विलासरूप, सदा सहज परमवीतरागसुखामृत, अप्रतिहतनिरावरण परमचित्शक्तिरूप, सदा अन्तर्मुख स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजपरमचारित्र और त्रिकाल अविच्छिन्न होने

से; सदा निकट परमचैतन्य की श्रद्धा से एवं स्वभाव अनन्त चतुष्टय से सनाथ एवं अनाथमुक्तिसुन्दरी के नाथ आत्मा को निरन्तर भाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि भाने योग्य, अनुभव करने योग्य तो एकमात्र सहजज्ञानविलासरूप से स्वभाव अनंतचतुष्टययुक्त आत्मा ही है।

इसप्रकार संसाररूपी लता के मूल को छेदने के लिए हंसियारूप इस उपन्यास (कथन) से ब्रह्मोपदेश किया।''

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो, यहाँ त्रिकालीकारणज्ञान में भी निजकारणसमयसार को जानने की सामर्थ्य कही गयी है, वह कार्यरूप नहीं है, किन्तु वैसी सामर्थ्य है। यह तो त्रिकालस्वरूपप्रत्यक्ष है, इसमें कोई भेद नहीं पड़ता।

एकरूप सहजचित्शक्तिरूप त्रिकालज्ञानोपयोग है। उसमें निज-कारणपरमात्मा में रहनेवाले सहज दर्शन-चारित्र-सुख और सहज परम-चित्शक्तिरूप निजकारणपरमात्मा के स्वरूपों को युगपत् जानने की सामर्थ्य है ह्न ऐसा कारणस्वभावज्ञान है। यह ज्ञान शक्तिरूप है, स्वभावरूप है; कार्यरूप नहीं है।[१]

यहाँ जो स्वरूपप्रत्यक्ष कहा, वह त्रिकालशक्तिरूप स्वभाव की बात है। यह जो परमस्वभावरूप कारणज्ञान है; वह द्रव्य का विशेषरूप से वर्तमान है, त्रिकाल एकरूप है। ज्ञान का जो त्रिकाल स्वरूपप्रत्यक्ष रूप भाव है, उसको यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष कहा है। केवलज्ञान पर्याय प्रकट होती है; उसे स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं कहा, उसको तो सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है।

यहाँ केवलज्ञान को कार्यस्वभावज्ञान कहा और कारणस्वभावज्ञान भी वैसा ही है ह्न ऐसा कहा, वह शक्तिरूप समझना।[२]

कार्यस्वभावज्ञान और कारणस्वभावज्ञान ह्न ये दोनों ही शुद्ध हैं, सहज दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आनन्दस्वरूप जो अपना कारणपरमात्मा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४६ २. वही, पृष्ठ १४७

है, उसको जानने की सामर्थ्य इस कारणस्वभावज्ञानोपयोग में है।[१]

निजकारणसमयसार को जाननेवाला जो त्रिकालस्वरूपप्रत्यक्ष कारणस्वभावज्ञानोपयोग है, उसके आश्रय से केवलज्ञानरूपी कार्य प्रकट होता है।[२]

सहजदर्शन-चारित्र-सुख और सहज चित्शक्तिरूप निजकारण-समयसार है, उसको युगपत् जानने का सामर्थ्य कारणस्वभावज्ञान में है ह्न ये दोनों मिलकर परमपारिणामिकभाव पूरा होता है। वह शुद्धनिश्चयनय का विषय है और जो केवलज्ञानादि पर्यायें प्रकट होती हैं, वे व्यवहारनय का विषय हैं; इसप्रकार दोनों मिलकर प्रमाणज्ञान होता है।[३]

यहाँ उपयोग की बात होने से ज्ञान और दर्शन इन दो गुणों के त्रिकाली कारणस्वभावज्ञानोपयोग की बात ली है। **आगे समूचे द्रव्य की कारणशुद्धपर्याय की बात आयेगी, उसमें तो सभी गुणों की एकरूप कारणशुद्धपर्याय की बात आयेगी। ऐसा सामान्य-विशेष से परिपूर्ण आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।**[४]

यहाँ उपर्युक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष का मूल निजपरमतत्त्व में स्थित एक सहजज्ञान ही है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मोक्ष का परमार्थ कारण नहीं है। मति-श्रुतादि को परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाता है। जो त्रिकालीकारणस्वभावज्ञान है, वही मोक्ष का मूल है ह्न वह सहजज्ञान त्रिकाल है।

चार ज्ञानों को मोक्ष का कारण नहीं कहा और केवलज्ञान तो मोक्षस्वरूप ही है, और उसका कारण त्रिकाली सहजज्ञान है। वह सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभाव के कारण भव्यजीवों का परम-स्वभाव है।

यद्यपि अभव्य को भी वैसा सहजज्ञान त्रिकाल है; किन्तु उसे उसका भान न होने से वह परमस्वभाव की गणना में नहीं आता।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७-१४८ २. वही, पृष्ठ १४८
३. वही, पृष्ठ १४८ ४. वही, पृष्ठ १५२

भव्यजीव का परमस्वभाव त्रिकाली सहज एकरूपज्ञान है और यही आदरणीय है; क्योंकि इसी के आश्रय से केवलज्ञान प्रकट होता है। **त्रिकालस्वरूप प्रत्यक्षज्ञान के आधार से ही सम्यक् मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय तथा केवलज्ञान होता है। किसी पर के आश्रय से ज्ञान विकसित नहीं होता।**

ऐसे सहजज्ञान को उपादेय करना ही मोक्ष का कारण है।[१]''

१०वीं, ११वीं और १२वीं गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका और उस पर हुए स्वामीजी के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात यह भासित होती है कि कारणस्वभावज्ञान दो प्रकार का है।

एक तो वह निष्क्रिय तत्त्व, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसको निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने या जिसका ध्यान करने का नाम सम्यक्चारित्र है।

दूसरा वह, जिसमें उसे जानने की शक्ति है। यह प्रगटरूप नहीं है, शक्तिरूप ही है; क्योंकि प्रगटदशारूप तो कार्यस्वभावज्ञान है।

इसीप्रकार की बात तीसरी गाथा में कारणनियम के संदर्भ में भी की गई है।

यह दूसरे प्रकार का कारणस्वभावज्ञान स्वरूपप्रत्यक्ष है और कार्य-स्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

दूसरे प्रकार के कारणस्वभावज्ञान को सहजज्ञान भी कहते हैं।

केवलज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान विभावज्ञानोपयोग हैं। उनमें अवधि ज्ञान और मन:पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष अर्थात् एकदेशप्रत्यक्ष हैं और मतिज्ञान व श्रुतज्ञान निश्चय से तो परोक्ष ही हैं; पर व्यवहार से उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

शेष बातें तो टीका और स्वामीजी के उद्धरणों से स्पष्ट हो ही गई हैं।।११-१२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १५३

इन गाथाओं के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में पाँच छन्द लिखते हैं। उक्त पाँच छन्दों में पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः।
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्।।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा।
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति।।१८।।

(रोला)

इसप्रकार का भेदज्ञान पाकर जो भविजन।
भवसागर के मूलरूप जो सुक्ख-दुक्ख हैं।।
सुकृत-दुष्कृत होते जो उनके भी कारण।
उन्हें छोड़ वे शाश्वत सुख को पा जाते हैं।।१८।।

इसप्रकार कहे गये भेदविज्ञान को पाकर हे भव्यजीवो ! घोर संसार के मूलरूप सभी सुख-दुःख और पुण्य-पाप को छोड़ दो; क्योंकि इन्हें छोड़ने पर जीव शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं।।१८।।

उक्त पाँच छन्दों में दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः।।१९।।

(दोहा)

करो उपेक्षा देह की परिग्रह का परिहार।
अव्याकुल चैतन्य को भावो भव्य विचार।।१९।।

परिग्रह का आग्रह छोड़कर और शरीर के प्रति उपेक्षा करके निराकुलता से भरा हुआ चैतन्यमात्र है शरीर जिसका; उस आत्मा की भावना भाओ।

उक्त दोनों छन्दों में पुण्य-पाप और उनके फल में प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख-दुख तथा परिग्रह का आग्रह छोड़ने तथा शरीर की

उपेक्षा करके आत्मा की भावना भाने का अनुरोध किया गया है; क्योंकि ऐसा करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।।१४।।

उक्त पाँच छन्दों में तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात् पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम्।।२०।।

(रोला)

यदि मोह का निर्मूलन अर विलय द्वेष का।
और शुभाशुभ रागभाव का प्रलय हो गया।।
तो पावन अतिश्रेष्ठज्ञान की ज्योति उदित हो।
भेदज्ञानरूपी तरु का यह फल मंगलमय।।२०।।

मोह का निर्मूलन करने से, प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त राग का विलय करने से तथा द्वेषरूपी ज्ञान से भरे हुए मनरूपी घड़े का नाश करने से; पवित्र, अनुत्तम और नित्य उदित ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

भेदज्ञानरूपी वृक्ष का यह सत्फल वंदनीय है, जगत् को मंगलरूप है।

उक्त छन्द में भेदज्ञान और ज्ञानज्योति की वंदना की गई है।।२०।।

सहजज्ञान की महिमा बतानेवाला चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मन्दाक्रान्ता)

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च।
लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम्।।२१।।

(रोला)

जिसकी विकसित सहजदशा अंतर्मुख जिसने।
तमोवृत्ति को नष्ट किया है निज ज्योति से।।
सहजभाव से लीन रहे चित् चमत्कार में।
सहजज्ञान जयवंत रहे सम्पूर्ण मोक्ष में।।२१।।

आनन्द जिसका विस्तार है, जो अव्याबाध है, जिसकी सहज दशा विकसित हो गई है, जो अन्तर्मुख है, जो अपने में अर्थात् सहज विलसते चित्चमत्कार मात्र में लीन है, जिसने निजज्योति से अज्ञानांधकार को नष्ट किया है और नित्य अभिराम है; वह सहजज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में जयवंत वर्तता है।

इस छन्द में सहजज्ञान को अव्याबाध सहजानन्दमय ज्योतिस्वरूप बताया गया है और उसके जयवंत रहने की भावना व्यक्त की गई है।।२१।।

उक्त पाँच छन्दों में से अन्तिम पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम्।।२२।।

(सोरठा)

सहजज्ञान सर्वस्व शुद्ध चिदातम आतमा।
उसे जान अविलम्ब निर्विकल्प मैं हो रहा।।२२।।

सहजज्ञानरूपी साम्राज्य जिसका सर्वस्व है ह्न ऐसे शुद्ध चैतन्य अपने आत्मा को जानकर अब मैं निर्विकल्प होता हूँ।

इस छन्द में तो मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव आत्मा को जानकर, उसी में जमकर, रमकर निर्विकल्प होने की बात कर रहे हैं।।२२।। ●

इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती हैं; पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती हैं और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अत: यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती है, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८७**

नियमसार गाथा १३

विगत गाथाओं में ज्ञानोपयोग की चर्चा की गई है; अब इस गाथा में दर्शनोपयोग की चर्चा आरंभ करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

तह दंसण उवओगो ससहावेदरवियप्पो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं।।१३।।

(हरिगीत)

स्वभाव और विभाव दर्शन भी कहा दो रूप में।
पर अतीन्द्रिय असहाय केवल स्वभावदर्शन ही कहा।।१३।।

उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। जो केवलदर्शन इन्द्रियरहित और असहाय है; वह स्वभावदर्शनोपयोग है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का व्याख्यान है।

जिसप्रकार ज्ञानोपयोग अनेकप्रकार के भेदोंवाला है; उसीप्रकार दर्शनोपयोग भी अनेकप्रकार के भेदोंवाला है।

स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग के भेद से दर्शनोपयोग दो प्रकार का है।

स्वभावदर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है ह्न कारणस्वभावदर्शनोपयोग और कार्यस्वभावदर्शनोपयोग।

कारणदृष्टि तो; औदयिकादि चार विभावस्वभावपरभावों को अगोचर सहज परमपारिणामिकभावरूप निरावरण जिसका स्वभाव है, जो कारणसमयसारस्वरूप है, जो निजस्वभाव सत्तामात्र है, जो परम-चैतन्य सामान्यस्वरूप है, जो अकृत्रिम परमस्वस्वरूप में अविचल स्थितिमय शुद्धचारित्रस्वरूप है, जो नित्यशुद्धनिरंजनज्ञानस्वरूप है और जो समस्त दुष्ट पापोंरूप वीर शत्रुसेना की ध्वजा के नाश का कारण है;

ऐसे सदा पावनरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप श्रद्धानमात्र ही है। तात्पर्य यह है कि कारणदृष्टि तो शुद्धात्मा की स्वरूपश्रद्धामात्र ही है।

और कार्यदृष्टि; दर्शनावरण, ज्ञानावरणादि प्रमुख घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। जिसने सकल विमल केवलज्ञान द्वारा तीन भुवन को जाना है; निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमवीतरागसुखामृत का जो समुद्र है, जो यथाख्यात नामक कार्यशुद्धचारित्रस्वरूप है, जो सादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है और जो त्रिलोक के भव्यजनों से प्रत्यक्ष वंदना योग्य है ह्न ऐसे इस क्षायिक जीव तीर्थंकर परमदेव को, केवलज्ञान की भांति यह (कार्यदृष्टि) भी युगपत् लोकालोक में व्याप्त होनेवाली है।

इसप्रकार कार्यरूप और कारणरूप से स्वभावदर्शनोपयोग कहा। विभावदर्शनोपयोग अगले चौदहवें गाथासूत्र में बताया जायेगा।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''दर्शन अथवा दृष्टि के दो अर्थ हैं ह्न १. सामान्यप्रतिभास और २. श्रद्धा। जहाँ जो अर्थ घटित होता हो, वहाँ वही अर्थ समझना चाहिए। जहाँ दोनों अर्थ गर्भित हों, वहाँ दोनों ही समझना चाहिए।

दृष्टि और दर्शनोपयोग दोनों निर्विकल्प होने से यहाँ टीकाकार ने उन दोनों को गर्भितरूप से ले लिया है। कारणदृष्टि और कारणदर्शनोपयोग ह्न इन दोनों को यहाँ साथ-साथ लिया है।[१]

वहाँ परमपारिणामिकस्वभाव को चार भावों से अगोचर कहा है; सो वह तो, उस पारिणामिकस्वभाव का ही अवलम्बन लेना चाहिए ह्न ऐसा बतलाने के लिए कहा है। वास्तव में तो उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभावों से वह पारिणामिकभाव गोचर होता है, अगोचर नहीं है; किन्तु वे तीनों भाव क्षणिकपर्यायरूप हैं, उनके अवलम्बन से विकल्पोत्पत्ति होती है। अरे ! क्षायिकभाव के लक्ष से भी विकल्प ही उत्पन्न होता है; इसलिए उन्हें यहाँ विभाव कहा है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १६२

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ह्न ये चारों भाव अपेक्षितभाव होनेसे विभावस्वभाव परभाव कहे गये हैं। एक सहज परमपारिणामिकभाव को ही सदा पावनरूप निजस्वभाव कहा है।

चार विभावभावों का आश्रय करने से परमपारिणामिकभाव का आश्रय नहीं होता। परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही सम्यक्त्व से लगाकर मोक्षदशा तक की सभी दशायें प्राप्त होती हैं।

जिसमें क्षायिकभाव की भी अपेक्षा नहीं ह्न ऐसा जो त्रिकाल, निरपेक्ष, एकरूप, परमपारिणामिकभाव है; उसी के आश्रय से धर्म होता है। यद्यपि उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव हैं तो धर्मभाव ही; तथापि उनके आश्रय से धर्म नहीं होता; धर्म तो पारिणामिकभाव के आश्रय से ही होता है। इसलिए उस पारिणामिकभाव का आश्रय कराने के लिए चार विभाव भावों से उसे अगम्य कहा है।

उत्पाद-व्यय से रहित त्रिकाल श्रद्धा को भी यहाँ स्वरूपश्रद्धा कहा है। यह ध्रुवरूप है, इसे त्रिकालदर्शन भी कहते हैं तथा त्रिकालीस्वरूप श्रद्धा भी कहते हैं।

यह आत्मा के दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है, यहाँ कारण-स्वभावदर्शनोपयोग में त्रिकाली श्रद्धा को भी लिया गया है।[१]

देखो, आत्मा उपयोगस्वरूप है। उसमें १. त्रिकालकारणस्वभाव ज्ञान उपयोग २. त्रिकालकारणस्वभावदर्शन उपयोग अथवा त्रिकाली सहजस्वरूपश्रद्धान ह्न यह दोनों निश्चयनय के विषय हैं।

१. कार्यस्वभावज्ञान उपयोग २. कार्यस्वभावदर्शन उपयोग ह्न यह दोनों व्यवहारनय के विषय हैं।

इनमें से शुद्धनिश्चयनय के विषय का अवलम्बन करना ही मोक्ष का कारण है। उपर्युक्त चारों ही प्रकार स्वभावरूप हैं।

इस भांति कार्य और कारणरूप से स्वभावदर्शनोपयोग कहा। विभावदर्शनोपयोग अग्रिम गाथा में होने के कारण, वहीं कहा जावेगा।

स्वभावदर्शनोपयोग के साथ स्वरूपश्रद्धा को समाविष्ट कर दिया

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १६२-१६३

है। यद्यपि श्रद्धा और दर्शन उपयोग का लक्षण भिन्न-भिन्न है; तथापि दोनों सामान्यरूप हैं; इसलिए यहाँ दर्शनोपयोग में श्रद्धा का भी समावेश कर लिया है।[१]''

आत्मा में अनन्त गुण हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, चारित्र, वीर्य आदि गुण मोक्षमार्ग में उपयोगी होने से मुख्य माने गये हैं।

मतिज्ञानादि ज्ञान ज्ञानगुण की पर्यायें हैं, चक्षुदर्शनादि दर्शन दर्शन गुण की पर्यायें हैं और सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन श्रद्धागुण की पर्यायें हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दर्शनगुण और श्रद्धागुण एकदम भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धागुण की पर्यायों में सम्यक् और मिथ्या का भेद है, पर दर्शनगुण की पर्यायों में ऐसा कोई भेद नहीं है। श्रद्धागुण का मुक्ति के मार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर दर्शनगुण का इतना महत्त्व नहीं है।

यद्यपि यहाँ उपयोगरूप दर्शनगुण का ही प्रकरण है; तथापि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने यहाँ इस गाथा की टीका में दर्शन शब्द का प्रयोग अपनी सुविधानुसार देखना और श्रद्धा करना ह्न दोनों ही अर्थों में किया है। अत: यह सावधानी आवश्यक है कि जहाँ जो अर्थ प्रकरणानुसार उचित हो, वहाँ हम वही अर्थ ग्रहण करें।।१३।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(इन्द्रवज्रा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम्।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चैरेतेन मार्गेण विना न मोक्ष ।।२३ ।।

(दोहा)

दर्शनज्ञानचरित्रमय चित् सामान्यस्वरूप।
मार्ग मुमुक्षुओं के लिए अन्य न कोई स्वरूप।।२३।।

दृशि, ज्ञप्ति और वृत्तिस्वरूप अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप से परिणमित चैतन्यसामान्यरूप निज आत्मतत्त्व मुमुक्षुओं को मोक्ष का प्रसिद्ध मार्ग है; क्योंकि इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में मात्र यही कहा गया है कि आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप में परिणमन ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है, अन्य कुछ भी नहीं।।२३।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १६५

नियमसार गाथा १४

विगत गाथा में जिस दर्शनोपयोग की चर्चा की गई है; अब उसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कुन्दकुन्दाचार्यदेव १४वीं गाथा लिखते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो।।१४।।

(हरिगीत)

चक्षु अचक्षु अवधि त्रय दर्शन विभाव कहे गये।
पर्याय स्वपरापेक्ष अर निरपेक्ष द्विविध प्रकार है।।१४।।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ह्न ये दर्शन विभावदर्शन कहे गये हैं। स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष के भेद से पर्यायें दो प्रकार की हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अशुद्ध दर्शन तथा शुद्ध और अशुद्ध पर्याय की सूचना है।

जिसप्रकार यह जीव मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तुओं को जानता है; उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्त वस्तुओं को देखता है।

जिसप्रकार यह जीव श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत में कहे गये मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुओं को परोक्षरूप से जानता है; उसीप्रकार अचक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण द्वारा उस-उसके योग्य विषयों को देखता है।

जिसप्रकार यह जीव अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से शुद्ध पुद्गल (परमाणु) पर्यन्त मूर्त द्रव्य को जानता है; उसीप्रकार अवधि दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से समस्त मूर्त पदार्थों को देखता है।

इसप्रकार उपयोग का व्याख्यान करने के उपरान्त अब यहाँ पर्याय का स्वरूप कहा जाता है।

जो सभी ओर से भेद को प्राप्त हो, उसे पर्याय कहते हैं। उसमें सभी छह द्रव्यों में सामान्यरूप से पाई जानेवाली स्वभावपर्याय अर्थपर्याय है। वह अर्थपर्याय वाणी और मन के अगोचर अतिसूक्ष्म है, आगम प्रमाण से स्वीकार करने योग्य है और छहप्रकार की हानि-वृद्धि सहित है। यह षट्प्रकार की वृद्धि इसप्रकार है ह्न

१. अनन्तभागवृद्धि, २. असंख्यातभागवृद्धि, ३. संख्यातभागवृद्धि, ४. संख्यातगुणवृद्धि, ५. असंख्यातगुणवृद्धि और ६. अनंतगुणवृद्धि।

इसीप्रकार छहप्रकार की हानि भी घटित कर लेना चाहिए।

नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें अशुद्धपर्यायें हैं।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मतिज्ञान से अन्तर का स्वसंवेदन आत्मा करे ह्न यह बात यहाँ गौण है; यहाँ तो पर के जानने की अपेक्षा से बात है। सम्यक् मति-श्रुतज्ञान तो आत्मा को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करता है। स्वरूप को स्व-संवेदन प्रत्यक्ष करे और मूर्त-अमूर्त दोनों को जाने ह्न ऐसा सम्यक् मतिज्ञान है; किन्तु यहाँ दर्शनोपयोग का स्वरूप समझाना है, इसलिए मतिज्ञान को भी मूर्त को ही जाननेवाला कहा है। उसीतरह चक्षु-दर्शनोपयोग से जीव मूर्त पदार्थ को देखता है।

जिसप्रकार श्रुतज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से (जीव) श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत में कथित मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तुसमूह को परोक्षरीति से जानता है; उसीप्रकार अचक्षुदर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से (जीव) स्पर्शन, रसन, घ्राण और कर्ण द्वारा उसके योग्य विषयों को देखता है।

यहाँ इन्द्रियों के विषयों की बात ली है। यद्यपि मन से भी अचक्षु-दर्शनोपयोग होता है, किन्तु यहाँ तो त्रिकालकारणस्वभाव की महिमा बतलाने के लिए चक्षु-अचक्षुदर्शन का बहुत स्थूल वर्णन किया है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में तीनप्रकार के विभावदर्शनों का स्वरूप स्पष्ट

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १६८

किया है। साथ में षट्गुणीहानिवृद्धिरूप शुद्ध अर्थपर्यायों और नर-नारकादिरूप अशुद्ध व्यंजनपर्यायों की चर्चा भी की गई है।।१४।।

१४वीं गाथा की टीका समाप्त करने के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभ-मलधारिदेव ३ छन्द लिखते हैं; जिसमें पहला व दूसरा छन्द इसप्रकार हैं ह्न

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं।
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः।
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः।।२४।।

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां।
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं।
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम्।।२५।।

(वीर)

परभावों के होने पर भी परभावों से भिन्न जीव है।
सहजगुणों की मणियों का निधि है सम्पूरण शुद्ध जीव यह।।
ज्ञानानन्दी शुद्ध जीव को शुद्धदृष्टि से जो भजते हैं।
वही पुरुष सुखमय अविनाशी मुक्तिसुंदरी को वरते हैं।।२४।।

इसप्रकार गुणपर्यायों के होने पर भी कारण-आतम।
गहराई से राजमान है श्रेष्ठनरों के हृदयकमल में।।
स्वयं प्रतिष्ठित समयसारमय शुद्धातम को हे भव्योत्तम।
अभी भज रहे अरे उसी को गहराई से भजो निरन्तर।।२५।।

परभावों के होने पर भी भगवान आत्मा तो सहज गुण मणियों की खान है, पूर्णज्ञानवाला होने पर भी शुद्ध है। ऐसे भगवान आत्मा को जो तीक्ष्णबुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है; वह पुरुष मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ बनता है।

इसप्रकार पर गुण-पर्यायों के होने पर भी उत्तम पुरुषों के हृदयकमल में तो कारण आत्मा ही विराजमान है। स्वयं से उत्पन्न परमब्रह्मस्वरूप

जिस समयसार (शुद्धात्मा) को तू भज रहा है; हे भव्यशार्दूल! तू उसे और अधिक गहराई से भज; क्योंकि वस्तुत: तू वही है।।२४-२५।।

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति सद्गुणै: क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणै:
क्वचित्सहजपर्ययै: क्वचिदशुद्धपर्यायकै: ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयै सदा ।।२६ ।।

(रोला)

क्वचित् सद्गुणों से आतम शोभायमान है।
असत् गुणों से युक्त क्वचित् देखा जाता है।।
इसी तरह है क्वचित् सहज पर्यायवान पर।
क्वचित् अशुभ पर्यायों वाला है यह आतम।।
सदा सहित होने पर भी जो सदा रहित है।
इन सबसे जो जीव उसी को मैं भाता हूँ।।
सब अर्थों की सिद्धि हेतु हे भविजन जानो।
सहज आतमाराम उसी को मैं ध्याता हूँ।।२६।।

यह जीवतत्त्व क्वचित् तो सद्गुणों से विलास करता दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्धगुणों सहित दिखाई देता है, क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसित होता है और क्वचित् अशुद्धपर्यायों सहित दिखाई देता है। इन सबसे सनाथ (सहित) होने पर भी जो इन सबसे अनाथ (रहित) हैं; ऐसे जीवतत्त्व को मैं सकलार्थ की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ।

यद्यपि यह भगवान आत्मा विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार का दिखाई देता है; तथापि इस आत्मा की आराधना सभी प्रकार की सिद्धियों का साधन है।।२६।। ●

पर के कल्याण के विकल्प में अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है। मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८८

नियमसार गाथा १५

१४वीं गाथा की दूसरी पंक्ति से पर्यायों की चर्चा आरंभ हुई है; अब इस १५वीं गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।१५।।

(हरिगीत)

नर नारकी तिर्यंच सुर पर्यय विभाव कही गईं।
निरपेक्ष कर्मोपधि सुध पर्यय स्वभाव कही गई।।१५।।

नर, नारक, तिर्यंच और देव ह्न ये पर्यायें विभाव पर्यायें कही गई हैं और कर्मोपाधि निरपेक्ष पर्यायें स्वभाव पर्यायें कही गयी हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह स्वभाव पर्यायों और विभाव पर्यायों का संक्षिप्त कथन है।

इन स्वभाव और विभाव पर्यायों में **कारणशुद्धपर्याय** और **कार्यशुद्ध-पर्याय** के भेद से स्वभावपर्याय दो प्रकार की कही गई है।

सहजशुद्धनिश्चयनय से अनादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभावी, शुद्ध, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्त:तत्त्वस्वरूप एवं स्वभाव अनन्तचतुष्टयस्वरूप के साथ रहने वाली पूजित पंचमभाव परिणति ही कारणशुद्धपर्याय है ह्न ऐसा अर्थ है।

और सादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभावी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख के साथ तन्मयरूप से रहने वाली परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति ही **कार्यशुद्धपर्याय** है।

अथवा पूर्वोल्लिखित गाथासूत्र में प्रतिपादित ऋजुसूत्रनय के अभिप्राय से छह द्रव्यों में सामान्यरूप से पाईं जानेवाली सूक्ष्म अर्थपर्यायें शुद्ध हैं ह्न ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार संक्षेप में शुद्धपर्याय के भेद कहे। अब व्यंजनपर्याय की चर्चा की जाती है।

जिससे प्रगट हो, व्यक्त हो; वह व्यंजनपर्याय है।

किसप्रकार ? वस्त्रादि के समान चक्षुगोचर होने से अथवा सादि-सांत, मूर्त, विजातीयस्वभाववाली होने से; दिखकर नष्ट होनेवाली होने से प्रगट होती है।

पर्यायी आत्मा के ज्ञान बिना आत्मा, पर्यायस्वभावी होने से व्यवहार नय से शुभाशुभरूप मिश्र परिणामों के कारण मनुष्य होता है; उसका वह मनुष्याकार ही मनुष्यपर्याय है; केवल अशुभकर्म से आत्मा नारकी होता है, उसका वह नारकाकार ही नारकपर्याय है; किंचित् शुभ मिश्रित माया परिणाम से आत्मा तिर्यंचकाय में जन्मता है, उसका वह तिर्यंचाकार ही तिर्यंचपर्याय है और केवल शुभकर्म से आत्मा देव होता है, उसका वह देवाकार देवपर्याय है ह्न यह व्यंजनपर्याय है।

इस व्यंजनपर्याय का विस्तार अन्य आगम से देख लेना चाहिए।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय यह गुण की बात नहीं है, किन्तु पर्याय की बात है। आत्मा में कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल है और कार्यशुद्धपर्याय नवीन प्रकट होती है।[१]

संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष ऐसी पर्यायों में तो अनेकरूपता ह्न विषमता आती है; आत्मा त्रिकालशुद्ध है, उस स्वभाव के साथ त्रिकाल ध्रुवरूप रहनेवाली, अव्यक्तरूप से वर्तमान वर्तती, व्यक्तरूप उत्पाद-व्यय से रहित ह्न ऐसी अखण्ड कारणशुद्धपर्याय है, वह अनादि-अनंत है।[२]

आत्मा, वह द्रव्य; स्वभावअनन्तचतुष्टय कहे, वे गुण और उनके साथ रहनेवाली परमपारिणामिकभाव से वर्तती परिणति, वह कारणशुद्ध-पर्याय है। यह कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १७५ २. वही, पृष्ठ १७६

सभी आत्माओं में यह कारणशुद्धपर्याय एकधारारूप से अनादि-अनन्त वर्त रही है, उसमें कोई भेद नहीं है।[१]

मूलसूत्र में **'कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया'** ऐसा कहा है, उसमें से टीकाकार मुनिराज ने यह **कारणशुद्धपर्याय** निकाली है।

कार्यशुद्धपर्याय में तो कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है; परन्तु इस कारणशुद्धपर्याय में तो, जो द्रव्य के साथ ही एकरूप अभेद है, कर्म के अभाव की अपेक्षा भी नहीं आती, वह तो त्रिकाल निरपेक्ष है।

जैसा सामान्यशक्तिरूप त्रिकालस्वभाव है, वैसा ही उसका परिणति रूप स्वभाव भी वर्तमान एकधारारूप शुद्ध वर्तता है। उसमें एकाग्रता करने पर मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रकट होता है। यह तो कार्य है।

सहजज्ञानादिस्वभाव अनन्तचतुष्टययुक्त कारणशुद्धपर्याय में से केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टययुक्त कार्यशुद्धपर्याय प्रकट होती है। पूज्यनीय परमपारिणामिकभावपरिणति कारणशुद्धपर्याय है और शुद्धक्षायिक भावपरिणति कार्यशुद्धपर्याय है।[२]

जिसप्रकार समुद्र, समुद्र के पानी का दल और उसकी एकरूप पानी की सपाटी त्रिकाल एकरूप है और उसमें लहरें उछलती हैं; उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाल एकरूप द्रव्य, उसके गुण और उसकी एकरूप ध्रुव पारिणामिकभाव से वर्तती पर्याय है। उसमें उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव तो उत्पाद-व्ययवाली पर्यायें हैं; किन्तु कारणशुद्धपर्याय तो एकरूप धारावाहिकरूप से वर्त रही है।[३]

एकरूप धारावाही सपाटीपने जो चैतन्यसमुद्र विराज रहा है; वही निश्चय से पूज्य है। इसी के आधार से जो केवलज्ञान प्रकट होता है; वह फलरूप कार्यपर्याय है।

यह कारणशुद्धपर्याय फलरूप नहीं है, इसके आश्रय से जो कार्य-शुद्धपर्याय प्रकट होती है, वह फलरूप है। उसका वर्णन अब करते हैं।

सादि, अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूतव्यवहार-नय से केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १७७ २. वही, पृष्ठ १७७ ३. वही, पृष्ठ १७९

अनन्तचतुष्टय के साथवाली अर्थात् अनन्तचतुष्टय के साथ तन्मयपने रहनेवाली जो परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्ध परिणति है, वही कार्यशुद्धपर्याय है।

१. कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त है, परन्तु यह कार्यशुद्धपर्याय सादि-अनन्त है।

२. कारणशुद्धपर्याय अमूर्त है, उसीप्रकार यह कार्यशुद्धपर्याय भी अमूर्त है।

३. कारणशुद्धपर्याय अतीन्द्रिय है, उसीप्रकार यह कार्यशुद्धपर्याय भी अतीन्द्रिय है।

४. कारणशुद्धपर्याय को त्रिकाल कार्य की उपाधि नहीं है, पर इस कार्यशुद्धपर्याय को प्रकट होने के बाद कर्म की उपाधि नहीं है।

५. कारणशुद्धपर्याय सहज शुद्धनिश्चयनय का विषय है और यह कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

६. कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल सहज ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सुख ह्न ऐसे स्वभावचतुष्टय के साथ वर्तती है और यह कार्यशुद्धपर्याय केवल-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ह्न ऐसे चतुष्टय के साथ अभेद वर्तती क्षायिकभावरूप उत्कृष्ट परिणति है (यहाँ कार्यचतुष्टय में वीर्य को लिया है और कारणशुद्धपर्याय में आनन्द को लिया है)।[१]

यह स्वभाव-अर्थपर्याय छहों द्रव्यों में है, त्रिकाल है। छह द्रव्य की साधारण स्वभाव-अर्थपर्यायरूप में इस पर्याय का वर्णन किया गया है। तथा जीव द्रव्य के लिए खासस्वभावपर्याय तो कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय जो ऊपर वर्णन हो चुकी है, वह है।

जीव का अधिकार है; अत: प्रथम ही उसकी कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ह्न ऐसी स्वभावपर्यायों को बताया, तत्पश्चात् छहों द्रव्यों की साधारण स्वभावपर्याय की बात की।

उपर्युक्त अर्थपर्यायें क्षण-क्षण में उत्पादव्ययरूप हैं, इसलिए उन पर सूक्ष्मऋजुसूत्रनय लागू पड़ता है। जो कारणशुद्धपर्याय है, उसमें

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १८१-१८२

षट्गुणी हानि-वृद्धि नहीं है, वह तो ध्रुव एकरूप धारा से है। उस पर नैगम, संग्रह या व्यवहार कोई भी नय लागू नहीं होता; वह त्रिकाल सहज शुद्धनिश्चयनय से है। यह अर्थपर्यायें षट्गुणी हानि-वृद्धि सहित हैं और समय-समय उनका उत्पाद-व्यय होता है। उनका सूक्ष्म स्वभाव तो आगमगम्य है। वे अर्थपर्यायें सिद्ध में भी हैं और निगोद में भी हैं, परमाणु में भी हैं; सभी द्रव्यों में है।

यहाँ जो कारणशुद्धपर्याय कही; उसमें सभी गुणों की पर्यायें आ गईं। यदि उसका विस्तार करें तो एक-एक गुण में उस-उस गुण की कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल वर्तती है। दूसरी कार्यशुद्धपर्यायें हैं। तीसरी अर्थपर्यायें कहीं तथा इनके अतिरिक्त क्षण-क्षण में राग-द्वेष-अज्ञानादि अशुद्धपर्यायें होती हैं, उन्हें यहाँ नहीं लिया है।

यहाँ तो अशुद्धपर्यायरूप में विभावव्यंजनपर्यायें ही लेंगे।[१]

अहो ! यह अलौकिक अचिन्त्य पदार्थ है। द्रव्य और गुण के स्व-आकार से वर्तती कारणशुद्धपर्याय है। यह द्रव्य, गुण और कारणशुद्ध-पर्यायरूप आत्मा ही भूतार्थ है। उसको मुख्य करके, उसका आश्रय कराने के लिए संसार, मोक्षमार्ग तथा मोक्षपर्याय को गौण करके व्यवहार कहा, अभूतार्थ कहा और त्रिकाली में उसका अभाव कहा।[२]

प्रथम आत्मा के आकार की बात करके पश्चात् जड़ देह के आकार की बात की है।[३]

त्रिकाली आत्मा पर्यायी है। पर्यायी अर्थात् द्रव्य। उस पर्यायी द्रव्य के भान बिना यह जीव शरीर आदि को एवं रागादि पर्याय को ही निजस्वरूप मानता है; इसलिए वह अज्ञानी पर्यायस्वभाववाला होता है। पर्याय को ही अपना स्वरूप माने, उसका नाम पर्यायस्वभावी है। वह शरीरादि के संयोगवाली पर्याय को अपना स्वभाव मानता है; अत: वह चतुर्गति में नये-नये शरीर धारण करके भटकता है।[४]''

मूल गाथा की ऊपर की पंक्ति में विभावपर्यायरूप व्यंजनपर्यायों

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १८३-१८४
२. वही, पृष्ठ १८५
३. वही, पृष्ठ १८५
४. वही, पृष्ठ १८५

की बात की गई है और नीचे की पंक्ति में कर्मोपाधि से रहित स्वभाव पर्यायों की चर्चा की गई है; किन्तु टीकाकार मुनिराज टीका में पहले कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय और षट्गुणीहानिवृद्धिरूप अर्थपर्यायों की अर्थात् स्वभावपर्यायों की चर्चा करते हैं।

यह वही महत्त्वपूर्ण गाथा है कि जिसकी दूसरी पंक्ति के 'कम्मोपाधि विवज्जिय' पद में से अन्यत्र अनुपलब्ध कारणशुद्धपर्याय निकालकर उसकी चर्चा विस्तार से की गई है। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव का न केवल यह अनुपम अनुसंधान है, अपितु वे इस पर इतने मुग्ध हैं कि उन्होंने गाथाकार कुंदकुंददेव के प्रतिपादन क्रम को भी बदल दिया है।

कारणशुद्धपर्याय, कार्यशुद्धपर्याय और अर्थपर्याय की चर्चा करने के उपरान्त जब टीकाकार ने व्यंजनपर्यायों की चर्चा आरंभ की तो थोड़ी-बहुत करके कह दिया कि इसका विस्तार अन्य ग्रंथों से जान लेना। उनका यह उपक्रम उनकी तीव्रतम आध्यात्मिक रुचि को प्रदर्शित करता है।

तात्पर्यवृत्ति टीका और आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के स्पष्टीकरण से मूल विषयवस्तु भलीभांति स्पष्ट हो गई है। अत: अब इसके संदर्भ में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।।१५।।

इस गाथा की टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टि:
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धि: ।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ।।२७।।

(रोला)

बहुविभाव होने पर भी हैं शुद्धदृष्टि जो।
परमतत्त्व के अभ्यासी निष्णात पुरुष वे।।
'समयसार से अन्य नहीं है कुछ भी' ह्न ऐसा।
मान परमश्री मुक्तिवधू के वल्लभ होते।।२७।।

सहजपरमतत्त्व के अभ्यास में प्रवीण शुद्धदृष्टिवाला पुरुष, वर्तमान-पर्याय में अनेक विभाव होने पर भी 'समयसार से अन्य कुछ भी नहीं है' ह्न ऐसा मानकर शीघ्र ही परमश्रीरूपी मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ होता है, मुक्तिसुन्दरी को प्राप्त करता है।

इस छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं ह्न

''चौबीसवें श्लोक में ऐसा कहा था कि परभाव होने पर भी... जो शुद्ध आत्मा को, एक को भजता है ह्न ऐसा तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्धपुरुष मुक्तिसुन्दरी का वल्लभ होता है।

पच्चीसवें श्लोक में ऐसा कहा कि हे भव्यशार्दूल ! परगुणपर्यायें होने पर भी...परब्रह्मरूप...समयसार को तू भज।

छब्बीसवें श्लोक में ऐसा कहा कि जीवतत्त्व क्वचित् सहज-पर्यायोंसहित और क्वचित् अशुद्धपर्यायों सहित विलसता है।

इन सबसे सहित होने पर भी इन सबसे रहित ऐसे जीवतत्त्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिए भाता हूँ।

अब यहाँ सत्ताइसवें श्लोक में भी ऐसा कहते हैं कि **अहो ! पर्याय में बहु विभाव होने पर भी सहज स्वाभाविक परमतत्त्व के अभ्यास में जिसकी बुद्धि प्रवीण है, वह शुद्धदृष्टि वाला पुरुष शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है। 'परमतत्त्व का अभ्यास' कहकर चारित्र बतलाया। 'प्रवीण-बुद्धि' कहकर सम्यग्ज्ञान बतलाया। और 'शुद्धदृष्टि' कहकर सम्यग्दर्शन बतलाया। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला पुरुष शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है।**[१]''

उक्त छन्द में एकमात्र बात यही कही गई है कि समयसार अर्थात् **पर और पर्यायों से भिन्न एवं कारणशुद्धपर्याय से अभिन्न निज भगवान आत्मा ही सबकुछ है** ह्न ऐसा माननेवाले को शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति की प्राप्ति होती है।।२७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १८७-१८८

नियमसार गाथा १६-१७

जिन मनुष्यादि व्यंजनपर्यायों की चर्चा विगत गाथा में की गई है, अब इन गाथाओं में उन्हीं पर्यायों के भेदों के प्रभेद गिनाते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण।।१६।।
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं।।१७।।

(हरिगीत)

कर्मभूमिज भोगभूमिज मानवों के भेद हैं।
अर सात नरकों की अपेक्षा सप्तविध नारक कहे।।१६।।
चतुर्दश तिर्यंच एवं देव चार प्रकार के।
इन सभी का विस्तार जानो अरे लोक विभाग से।।१७।।

कर्मभूमिज और भोगभूमिज ह्न इसप्रकार मनुष्य दो प्रकार के हैं। सात नरक भूमियों की अपेक्षा नारकी सात प्रकार के हैं। तिर्यंच चौदह प्रकार के और देव चार प्रकार के हैं। इनके बारे में विस्तृत जानकारी लोकविभाग नामक परमागम से करना चाहिए।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण है। मनु की संतान मनुष्य कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

आर्य और म्लेच्छ के भेद से कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। पुण्यक्षेत्र में रहनेवाले आर्य हैं और पापक्षेत्र में रहनेवाले म्लेच्छ हैं। भोगभूमिज मनुष्य आर्य ही हैं। वे जघन्य, मध्यम और उत्तम क्षेत्र में रहते हैं तथा एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयुवाले होते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा नामक सात पृथवियों के भेदों के कारण नारकी जीव सात प्रकार के होते हैं। पहले नरक के नारकी एक सागर, दूसरे नरक के नारकी तीन सागर, तीसरे नरक के नारकी सात सागर, चौथे नरक के नारकी दश सागर, पाँचवें नरक के नारकी सत्तरह सागर, छठवें नरक के नारकी बाईस सागर और सातवें नरक के नारकी तैंतीस सागर की आयुवाले होते हैं।

विस्तारभय से संक्षेप में बात करने से तिर्यंचों के चौदह भेद हैं।

(१-२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(३-४) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(५-६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(७-८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(९-१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(११-१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।
(१३-१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी ह्न इसप्रकार देवों के चार निकाय हैं अर्थात् देव चार प्रकार के होते हैं।

इन चार गति के जीवों के भेदों के भेद लोकविभाग नामक परमागम में देख लेने चाहिए; क्योंकि इस परमागम में आत्मस्वरूप के निरूपण में अन्तराय का हेतु जानकर गाथा सूत्रों को रचनेवाले पूर्वाचार्य कुन्द-कुन्ददेव ने नहीं कहे हैं।''

यह नियमसार परमागम अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थराज है। आचार्य देव को इसमें इन चार गतियों की चर्चा विस्तार से करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। अत: उन्होंने इनके नाम मात्र गिनाकर मूल गाथा में ही लिख दिया कि **'लोयविभागेसु णादव्वं'** ह्न इनका स्वरूप लोक के विभाग का विस्तार से निरूपण करनेवाले शास्त्रों से जान लेना चाहिए।

गाथा में तो मात्र भेद ही गिनाये थे, पर टीका में थोड़े से प्रभेद बताकर मूल ग्रन्थकार के अभिप्राय को ध्यान में रखकर अधिक विस्तार नहीं किया ।।१६-१७।।

टीका के अन्त में टीकाकार मुनिराज दो छन्द लिखते हैं; जिनमें से प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्न

(मन्दाक्रान्ता)

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्जोतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे ।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूयो भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः ।।२८।।

(वीर)

दैवयोग से मानुष भव में विद्याधर के भवनों में।
स्वर्गों में नरकों में अथवा नागपती के नगरों में।।
जिनमंदिर या अन्य जगह या ज्योतिषियों के भवनों में।
कहीं रहूँ पर भक्ति आपकी रहे निरंतर नजरों में।।२८।।

हे जिनेन्द्र ! भाग्यवश मैं चाहे स्वर्गों में रहूँ, मनुष्य लोक में रहूँ, विद्याधारों के स्थान में रहूँ, ज्योतिषी देवों के लोक में रहूँ, नागेन्द्रों के नगर में रहूँ, नरकों में रहूँ, जिनेन्द्र भगवान के भवनों अर्थात् मंदिरों में रहूँ या चाहे जहाँ रहूँ; परन्तु मुझे कर्म का उद्भव न हो और आपके चरणकमलों की भक्ति बारंबार हो, निरन्तर बनी रहे।

उक्त कलश में जो भावना व्यक्त की गई है; यद्यपि उसका भाव यह कदापि नहीं है कि मुनिराजश्री को चार गतियों में घूमना है; तथापि वे यह तो जानते ही हैं कि जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं हुई; तबतक इन चार गतियों में ही कहीं न कहीं तो रहना ही है।

इन गतियों में अच्छे-बुरे का भेद करने में उन्हें कोई रस नहीं है; कहीं भी रहें, पर वे कर्मों का ऐसा उदय नहीं चाहते कि जिसके कारण जिनेन्द्रभक्ति का अवसर न रहे।

तात्पर्य यह है कि उन्हें अच्छे-बुरे संयोगों की परवाह नहीं है; पर यह विकल्प अवश्य है कि जबतक मैं अष्टकर्मों से, मोह-राग-द्वेष

भावों से पूर्णतः मुक्त न हो जाऊँ; तबतक जिनेन्द्र भगवान की भक्ति अवसर बने रहें।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्द्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ।।२९।।

(रोला)

अरे देखकर नराधिपों का वैभव जड़मति।
क्यों पाते हो क्लेश पुण्य से यह मिलता है।।
पुण्य प्राप्त होता है जिनवर की पूजन से।
यदि हृदय में भक्ति स्वयं सब पा जाओगे।।२९।।

नराधपतियों के अनेकप्रकार के वैभव को देखकर व सुनकर हे स्थूलबुद्धि ! तू व्यर्थ ही क्लेश क्यों पाता है ? ये वैभव तो पुण्य से प्राप्त होते हैं और वह पुण्य जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों की पूजा से प्राप्त होता है। यदि तेरे हृदय में जिनेन्द्रभगवान के चरणकमलों की भक्ति है तो अनेकप्रकार के वे भोग तुझे स्वयं ही प्राप्त होंगे।

उक्त छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''हे जीव ! यदि तुझे भगवान की भक्ति होगी तो पुण्य से वैभव तो सहज ही मिल ही जायेगा, तुझे मांगना नहीं पड़ेगा।

साधक को बीच में शुभराग से ऐसा वैभव तो आप ही आप प्राप्त हो जाता है। यहाँ इस बात का ज्ञान कराया है, वैभव का लालच नहीं दिलाया है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि पदवी का वैभव सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी को ऐसी पदवी का

पुण्य नहीं होता। अत: हे मूढमति ! तू निजचैतन्य की भावना में ही रह, बाह्य वैभव की भावना मत कर।[१]''

चक्रवर्तियों का वैभव देखकर संक्लेश परिणाम करनेवाले लोगों को टीकाकार मुनिराज जड़मति कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पन्न लोगों की संपन्नता देखकर ललचानेवाले लोग जड़मति हैं, स्थूलबुद्धि हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यदि तेरे हृदय में जिनेन्द्र भगवान और उनकी वाणी के प्रति अनुराग है तो तुझे उक्त वैभव बिना चाहे ही स्वयं प्राप्त हो जायेगा; क्योंकि जिस पुण्योदय से उक्त वैभव की प्राप्ति होती है, वह पुण्य तो भगवान के भक्तों को सहज ही बंधता है।

यद्यपि यह सत्य है कि जिनेन्द्र भगवान का स्वरूप समझकर उनके गुणों में अनुराग होना भक्ति है और ऐसी भक्ति से पुण्य का बंध होता है। उस पुण्य के उदय में आने पर लोक में अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं; तथापि ज्ञानी धर्मात्माओं के जिनेन्द्र भगवान के गुणों में अनुरागरूप भक्ति तो होती है; किन्तु वे पुण्यबंध के प्रति उत्साहित नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि वे पुण्यबंध की भावना से भक्ति नहीं करते; तथापि उक्त भक्ति से पुण्य तो बंधता ही है और उसके उदयानुसार अनुकूल संयोग भी प्राप्त होते ही हैं।।२९।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १९३-१९४

मोक्ष माने मुक्त होना। दु:खों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनंदमय अतीन्द्रिय दशा है। अबाधित अनंत-आनन्दमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति की विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणकस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँच्छक होने के कारण ही हम सब मुमुक्षु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्माराधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२-८३

नियमसार गाथा १८

विगत गाथाओं में जीव के शुद्धस्वरूप और नारकादि व्यंजन-पर्यायों की चर्चा करने के उपरान्त अशुद्धजीव अर्थात् जीव की अशुद्धावस्था का निरूपण करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।१८।।

(हरिगीत)

यह जीव करता-भोगता जड़कर्म का व्यवहार से।
किन्तु कर्मजभाव का कर्ता कहा परमार्थ से।।१८।।

व्यवहारनय से आत्मा पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित रागादि भावों का कर्त्ता-भोक्ता है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के प्रकार का कथन है। आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म का कर्ता और उसके फलरूप सुख-दु:ख का भोक्ता है; अशुद्धनिश्चयनय से सभी मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म का कर्ता-भोक्ता है; अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से देहादिरूप नोकर्मों का कर्ता और उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से घट-पट-शकटादि (घड़ा, वस्त्र और गाड़ी आदि) का कर्ता है। इसप्रकार यह अशुद्धजीव का स्वरूप कहा।''

असद्भूत और सद्भूत के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है।

असद्भूतव्यवहारनय भी उपचरित-असद्भूत और अनुपचरित-असद्भूत के भेद से दो प्रकार का है।

इसीप्रकार सद्भूतव्यवहारनय भी उपचरित-सद्भूतव्यवहानय और अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के भेद से दो प्रकार का है।

इसप्रकार व्यवहारनय चार प्रकार का है। व्यवहारनय के उक्त चार प्रकार इसप्रकार हैं ह्न

१. उपचरित असद्भूतव्यवहारनय

२. अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय

३. उपचरित सद्भूतव्यवहारनय

४. अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय

निश्चयनय भी शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय के भेद से दो प्रकार का होता है।

अशुद्धनिश्चयनय एक प्रकार का ही है; पर शुद्धनिश्चयनय तीन प्रकार का होता है। वे तीन प्रकार इसप्रकार हैं ह्न

१. एकदेशशुद्धनिश्चयनय

२. साक्षात्शुद्धनिश्चयनय

३. परमशुद्धनिश्चयनय

इस गाथा की टीका में द्रव्यकर्मरूप कार्मणशरीर और नोकर्मरूप औदारिकादि शरीर का कर्ता-भोक्ता आत्मा को अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहा है; क्योंकि कार्माण शरीर और औदारिकादि शरीर एकक्षेत्रावगाही होने से निकटवर्ती हैं, इसलिए अनुपचरित है; अपने से भिन्न हैं, इसलिए असद्भूत हैं और इन्हें अपना कहा गया है, इसलिए व्यवहार हैं; इसप्रकार यह आत्मा इनका कर्ता-भोक्ता अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है।

इसीप्रकार घटपटादि दूरवर्ती परद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से कहा; क्योंकि घट-पटादि क्षेत्र से दूरवर्ती पदार्थ हैं, इसलिए उपचरित हैं; वे अपने से भिन्न हैं, इसलिए असद्भूत हैं और उनका कर्ता-भोक्ता कहा जाता है; अत: व्यवहार हैं ह्न इसप्रकार घट-पटादि का कर्ता-भोक्ता आत्मा उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है।

मोह-राग-द्वेषादि भाव अपने भाव ही हैं, पर अशुद्ध हैं; अत: उनका कर्ता-भोक्ता अशुद्धनिश्चयनय से कहा है।

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीका में नयविभाग से जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को समझाया है।।१८।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज छह छन्द लिखते हैं। उक्त छह

छन्दों में प्रथम छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको य:
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात्।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्त:।।३०।।

(दोहा)

परमगुरु की कृपा से मोही रागी जीव।
समयसार को जानकर शिव श्री लहे सदीव।।३०।।

सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषवाला कोई पुरुष परमगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से निर्विकल्प सहज समयसार को जानता है; वह परमश्री (मुक्ति) रूपी सुन्दरी का प्रिय कान्त (पति) होता है।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि यदि मोही-रागी-द्वेषी जीव भी परमगुरु के सदुपदेश से निज भगवान आत्मा के स्वरूप को जानकर निर्विकल्प होता है तो वह भी मोह-राग-द्वेष का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

परमगुरु अरहंत भगवान को कहते हैं। उनके चरणों की सेवा का एक अर्थ तो उनकी भक्ति हो सकता है; परन्तु शुभरागरूप भक्ति से तो पुण्य का बंध होता है, मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। **अत: उनसे तत्त्व सुनकर, उनकी लिखित वाणी-जिनवाणी को पढ़कर, देशनालब्धिपूर्वक करणलब्धिरूप आचरण करना ही उनके चरणों की सेवा का सही अर्थ है।**

तात्पर्य यह है कि जब मोही-रागी-द्वेषी जीव भी परमगुरु से सीधे सुनकर या उनके द्वारा लिखित शास्त्रों को पढ़कर तत्त्व को समझकर, समयसाररूप शुद्धात्मा को जानकर, उसका ध्यान कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो फिर हम सभी में से किसी को भी निराश होने की क्या आवश्यकता है?

इसलिए मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को परमगुरु से आत्मा का स्वरूप सुनकर, उनकी वाणी के अनुसार लिखे गये शास्त्रों को पढ़कर,

उस वाणी के मर्म को जाननेवाले ज्ञानी धर्मात्माओं से उस वाणी का मर्म समझ कर, शुद्धात्मा का स्वरूप जानकर, उसमें ही निर्विकल्प होकर समा जाना चाहिए। मुक्तिरूपी सुन्दरी को प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है॥३०॥

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम्।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम्॥३१॥

(दोहा)

भावकरम के रोध से द्रव्य करम का रोध।
द्रव्यकरम के रोध से हो संसार निरोध॥३१॥

भावकर्म के निरोध से द्रव्यकर्म का निरोध होता है और द्रव्यकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि यदि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का सद्भाव न हो तो द्रव्यकर्मों का बंध नहीं होता। **जब न तो भावकर्म होंगे और न द्रव्यकर्म ह्न ऐसी स्थिति में संसार कैसे खड़ा रह सकता है?॥३१॥**

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसन्ततिलका)

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके॥३२॥

(सोरठा)

करें शुभाशुभभाव, मुक्तिमार्ग जाने नहीं।
अशरण रहें सदीव मोह मुग्ध अज्ञानि जन॥३२॥

सम्यग्ज्ञान रहित जो मोही जीव अनेकप्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ मोक्षमार्ग को रंचमात्र भी नहीं जानता, नहीं चाहता; उस जीव को इस लोक में शरण देनेवाला कोई नहीं है।

३०वें छन्द में कहा था कि सद्गुरु के प्रसाद से जो शुद्धात्मा को

जानता है; वह मुक्ति को प्राप्त करता है और अब इस ३२वें छन्द में यह कह रहे हैं कि **जो जीव शुद्धात्मा को नहीं जानता; उसे इस संसार में कोई भी शरण देनेवाला नहीं है।**

तात्पर्य यह है कि **शुद्धात्मा को जानने की वांछा रखनेवाले को तो व्यवहार से सद्गुरु की और निश्चय से शुद्धात्मा की शरण विद्यमान ही है; किन्तु अज्ञानी जीव को कोई शरण नहीं है॥३२॥**

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसन्ततिलका)

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः॥३३॥

(दोहा)

कर्मजनित सुख त्यागकर निज में रमें सदीव।
परम अतीन्द्रिय सुख लहें वे निष्कर्मी जीव॥३३॥

जो सम्पूर्ण कर्मजनित सांसारिक सुख के समूह का अभाव करता है, उसे छोड़ता है; वह भव्यजीव निष्कर्म, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत सरोवर में रहते हुए अतिशय चैतन्यमय, एकरूप, अद्वितीय निजभाव को प्राप्त होता है, प्राप्त करता है।

इस छन्द में यही कहा गया है कि **जो कर्मोदय से प्राप्त विषयभोगों को हेय नहीं मानता, उन्हें दुखरूप नहीं जानता; वह अज्ञानी पुरुष या तो उन्हें भोगने में मस्त रहता है या फिर भोगसामग्री को जोड़ने में लगा रहता है;** परन्तु जो ज्ञानी पुरुष कर्मोदय से प्राप्त होनेवाले विषयभोगों को हेय जानकर छोड़ता है; वह निष्कर्म अतीन्द्रिय सच्चे सुख को प्राप्त करता है॥३३॥

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्।

हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ।।३४।।

(दोहा)

हममें कोई विभाव न हमें न चिन्ता कोई।
शुद्धातम में मगन हम अन्योपाय न होई ।।३४।।

हमारे आत्मस्वभाव में विभावभावों का अभाव होने से हमें उनकी कोई चिन्ता नहीं है। हम तो हमारे हृदय कमल में स्थित, सर्व कर्मों से रहित, शुद्धात्मा का निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि अन्य किसी भी प्रकार से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, नहीं होती।

उक्त छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''आत्मा के स्वभाव में शरीरादि तो है ही नहीं, परन्तु उसमें विभाव भी नहीं है; इसलिए हमें उस विभाव की भी चिंता नहीं है। हम तो शुद्धस्वभावी हैं, विभाव हमारे में नहीं है। जब हमारे स्वभाव में विभाव है ही नहीं, तो फिर स्वभाव की एकाग्रता में हमें उस **विभाव के टालने की चिंता भी क्यों हो ?**[१]

देखो ! ऐसे स्वभाव की दृष्टि के बल में जिसने विभाव को असत् स्वीकार किया, उसको तीव्र विभाव होता ही नहीं।

चाहे जैसा तीव्र विभाव करे और कहे कि हमारे स्वभाव में विभाव नहीं है ह्न ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि के जोर से जिसे विकार भासित ही नहीं होता, ऐसे दृष्टिवंत की पर्याय में से विकार अल्पकाल में टल ही जाता है।

जहाँ स्वभाव की भावना में एकाग्रता है; वहाँ विभाव के समक्ष देखता ही नहीं है; इसलिए विभाव है ह्न ऐसी तो चिंता ही नहीं और विभाव को टालूँ ह्न ऐसी भी चिंता नहीं; स्वभाव की ही भावना है।

बाह्य में शरीरादि का क्या होगा ? संघ का और शिष्यों का क्या होगा ? ऐसी चिंता तो है ही नहीं, परन्तु विभाव की भी चिंता नहीं है;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २०८

वहाँ तो चैतन्य की ही भावना है।[१]

अनुकूल निमित्तों की खोज और प्रतिकूल निमित्तों के पलायन से मुक्ति नहीं है, विकार के समक्ष देखने से भी मुक्ति नहीं, निर्मल पर्याय के भेद पर लक्ष करने से भी मुक्ति नहीं; एकरूप शुद्ध चैतन्य आत्मा के अनुभव से ही मुक्ति है। इसलिए हम तो एक शुद्धात्मा को ही सतत् रूप से अनुभव करते हैं।[२]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि जब हम परमशुद्धनिश्चयनय से पर और पर्याय से भिन्न निजस्वभाव को देखते हैं तो उसमें विभाव दिखाई ही नहीं देते; अत: हमें तत्संबंधी चिन्ता होती ही नहीं है। इसप्रकार **हम तो निरन्तर अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं; क्योंकि हमारी दृष्टि में इससे महान अन्य कोई कार्य नहीं है।।३४।।**

छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

भविनि भवगुणा: स्यु: सिद्धजीवेपि नित्यं
निजपरमगुणा: स्यु: सिद्धिसिद्धा: समस्ता: ।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ।।३५ ।।

(रोला)

संसारी के समलभाव पाये जाते हैं।
और सिद्ध जीवों के निर्मलभाव सदा हों ।।
कहता यह व्यवहार किन्तु बुधजन का निर्णय।
निश्चय से शुद्धातम में न बंध-मोक्ष हों।।३५।।

संसारी जीवों को सांसारिक गुण होते हैं और सिद्धजीवों को सिद्धि-सिद्ध अर्थात् परिपूर्ण निज परमगुण होते हैं ह्न यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय से तो भगवान आत्मा में मुक्ति भी नहीं है और संसार भी नहीं है। बुधपुरुषों का यही निर्णय है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २०८ २. वही, पृष्ठ २०९

''एक समय के विकार को संसारी का गुण कहा और निर्मलदशा को मुक्तजीव का गुण कहा; परन्तु ऐसे पर्यायभेद को जानना सो व्यवहार है। निश्चय से तो द्रव्यस्वभाव में मुक्ति भी नहीं है और संसार भी नहीं है। त्रिकालस्वभाव की अपेक्षा से एक समय की पर्याय अभूतार्थ है, इसलिए त्रिकालस्वभाव की निश्चयदृष्टि से आत्मा को संसार या मुक्ति नहीं है; वह तो एकरूप ध्रुव आनंदकंद है ह्न ऐसा बुधपुरुषों का, ज्ञानियों का निर्णय है।

देखो ! यहाँ स्वभावदृष्टि वालों को बुधपुरुष कहा है।

मुक्तपर्याय भी एक समय की है और संसारपर्याय भी एक समय की है। यह दोनों पर्यायें व्यवहारनय का विषय हैं। **निश्चयनय के विषय में एकरूप ध्रुव चैतन्य आनन्दकंद आत्मा ही है, उसमें संसार और मोक्ष जैसे भेद नहीं हैं। यह ज्ञानी, मुनि, केवली भगवन्तों का निर्णय है।**

जो ऐसा निर्णय करे, वही बुधपुरुष है, अन्यथा अबुध है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि जीव की संसारावस्था में मोह-राग-द्वेषरूप विभाव भाव पाये जाते हैं और मुक्तावस्था में स्वभावपर्यायरूप केवलज्ञानादि स्वभावभाव पाये जाते हैं; तथापि **जब परमशुद्धनिश्चयनय से विचार करते हैं तो भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव में न तो संसारावस्था है और मुक्तावस्था ही है; क्योंकि त्रिकाली ध्रुव आत्मा तो पर और पर्याय से भिन्न परमपदार्थ है।**

इस परमपदार्थ में अपनापन स्थापित होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है, इसे ही निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसमें ही रम जाने, जम जाने, समा जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मुक्ति का मार्ग है; अनन्त सुखी होने का एकमात्र उपाय है।।३५।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २१०

नियमसार गाथा १९

विगत गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय से जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की चर्चा की थी; अब इस गाथा में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय से जीव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं ह्न

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।१९।।

(हरिगीत)

द्रव्यनय की दृष्टि से जिय अन्य है पर्याय से।
पर्यायनय की दृष्टि से संयुक्त है पर्याय से।।१९।।

द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वकथित पर्यायों से भिन्न है और पर्यायार्थिक नय से जीव उक्त पर्यायों से संयुक्त है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ दोनों नयों का सफलपना कहा है। परमेश्वर अरहंत भगवान ने दो नय कहे हैं ह्न द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिकनय है।

एक नय का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है; किन्तु दोनों नयों का अवलम्बन लेता हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय के बल से पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से सिद्ध और संसारी ह्न सभी जीवराशि भिन्न ही हैं; क्योंकि '**सव्वे सुद्धा हु शुद्धणया** ह्न शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध ही हैं' ह्न ऐसा आगमवचन है।

विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनय के बल से, वे सभी जीव पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से संयुक्त हैं।

विशेष बात यह है कि सिद्धजीवों के अर्थपर्यायों सहित परिणति है, व्यंजनपर्यायों सहित नहीं है; क्योंकि वे सदा ही निरंजन हैं।

सिद्धजीवों के सदा निरंजन होने पर तो 'सभी जीव द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ह्न दोनों नयों से संयुक्त हैं' ह्न गाथासूत्र का ऐसा अर्थ व्यर्थ सिद्ध होता है ?

उक्त शंका का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि निगम अर्थात् विकल्प; जो उसमें हो, वह नैगम है।

भूतनैगमनय, वर्तमाननैगमनय और भावीनैगमनय के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का होता है।

यहाँ भूतनैगमनय की अपेक्षा से सिद्ध भगवान के भी व्यंजनपर्याय और अशुद्धता संभव है; क्योंकि जो अभी सिद्ध हैं, भूतकाल में वे भी संसारी ही थे ह्न अत: ऐसा व्यवहार है।

अधिक कहने से क्या, सभी जीव दो नयों के बल से शुद्ध व अशुद्ध हैं ह्न ऐसा अर्थ है।''

उक्त गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पहले तो कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय वगैरह कही थी; किन्तु यहाँ विभावपर्यायों की ही अपेक्षा लेना। पन्द्रहवीं गाथा के प्रथम पद में कही गयी विभावपर्यायें लेना; परन्तु द्वितीय पद में **'कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया'** कहा है, वे पर्यायें नहीं लेना।

जो विभावव्यंजनपर्यायें कही थीं, उन पर्यायों से जीव द्रव्यार्थिकनय से जुदा है। कारणशुद्धपर्याय के अतिरिक्त अन्य सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय हैं; किन्तु यहाँ पर्यायार्थिकनय के विषय में मात्र विकारी व्यंजनपर्यायें ही लेना हैं; पर्यायार्थिकनय से जीव के वे विकारी व्यंजनपर्यायें हैं और द्रव्यार्थिकनय से जीव उन विकारी पर्यायों से रहित है।[१]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २१२

आत्मा के प्रदेशत्वगुण की जिस पर्याय में कर्म का निमित्त है, उसको विभावव्यंजनपर्याय कहते हैं। यह पर्याय संसारदशा में है, वह पर्यायदृष्टि से है; किन्तु शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि से तो किसी जीव के वह पर्याय नहीं है। उन पर्यायों के भी दो-दो प्रकार हैं। स्वभाव-अर्थपर्याय और विभाव-अर्थपर्याय; स्वभावव्यंजनपर्याय और विभावव्यंजनपर्याय। उनमें से यहाँ विभावव्यंजनपर्याय की बात है।[१]

सिद्धजीवों के व्यंजनपर्यायें गिनी ही नहीं। यद्यपि उनमें स्वभाव व्यंजनपर्यायें तो हैं, परन्तु उनको स्वभाव-अर्थपर्यायें ही गिनी हैं। चूँकि यहाँ विभावव्यंजनपर्यायों की ही बात लेना है। अत: सिद्धों के विभाव व्यंजनपर्यायों का अभाव कहा है।[२]

विकारीव्यंजनपर्याय सिद्धों में नहीं है, उनमें तो असंख्यप्रदेशी अनन्तगुणों के पिण्ड की निर्विकारी परिणति ही हो रही है; वह सदा निरंजन है; इसलिए उनमें विकारीव्यंजनपर्याय नहीं कही गई है। स्वभाव-व्यंजनपर्याय तो है, सादि-अनन्त सदृश-आकृतिरूप परिणमन तो है, किन्तु विभावव्यंजनपर्याय नहीं है।[३]

पहले अकेली विभावव्यंजनपर्याय को पर्यायनय में परिगणित किया था और यहाँ अशुद्धता को भी साथ ले लिया है। जिसप्रकार भगवान को वर्तमान शुद्धता होने पर भी भूतनैगमनय से अशुद्ध भी कहा जाता है; उसीप्रकार निगोद का जो जीव वहाँ से निकलकर, आत्मभान करके मुक्त होनेवाला हो, वह जीव भविष्य में शुद्ध होनेवाला है, उसका आरोप करके वर्तमान में भी उसको शुद्ध कह सकते हैं। वर्तमान में विकार होने पर भी भविष्य की शुद्धता का वर्तमान में आरोप करके उसको भी शुद्ध कह सकते हैं।[४]

स्वभावदृष्टि से तो सभी जीव शुद्ध ही हैं और ऐसी दृष्टि से अपनी अशुर्द्धपर्याय टल कर आंशिक शुद्धदशा प्रकटी तथा पूर्ण शुद्धता प्रकट होनेवाली है। वहाँ वर्तमान अल्प विकार है, उसका भावीनैगमनय से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २१५
२. वही, पृष्ठ २१५
३. वही, पृष्ठ २१६
४. वही, पृष्ठ २१८

निषेध करके कहते हैं कि मैं शुद्ध हूँ और अपनी दृष्टि के बल से कहते हैं कि निगोद के जो जीव भविष्य में शुद्ध होनेवाले हैं, वे भावीनैगमनय से वर्तमान में भी शुद्ध हैं ह्न ऐसा कहा जाता है। **वर्तमान में विकारभाव का परिणमन होने पर भी वे जीव भावीनैगमनय से अभी शुद्ध हैं और सिद्ध भगवन्तों के वर्तमान में विकार का परिणमन न होने पर भी भूतनैगमनय के बल से उनके वर्तमान अशुद्धता भी कही जाती है।**[१]''

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति टीका और स्वामीजी के स्पष्टीकरण से गाथा का भाव पूरीतरह स्पष्ट हो जाता है; तथापि टीका में जिस नैगमनय की चर्चा की गई है, उसका स्वरूप इसप्रकार हैं ह्न

जो भूतकाल की पर्यायों को वर्तमानवत् संकल्पित करे या कहे, भविष्यकाल की पर्यायों को वर्तमानवत् संकल्पित करे या कहे और कुछ निष्पन्न व कुछ अनिष्पन्न वर्तमान पर्यायों को पूर्णत: निष्पन्न के समान संकलित करे या कहे; उस ज्ञान को या वचन को नैगमनय कहते हैं।

यही कारण है कि यह नय तीनप्रकार का होता है ह्न भूतनैगमनय, भावीनैगमनय और वर्तमाननैगमनय।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस नैगमनय का पैटा बहुत बड़ा है। इस नय का विषय पदार्थ और शब्द तो हैं ही; ज्ञानात्मक संकल्प भी है। इस प्रकार यह नैगमनय ज्ञाननय भी है, अर्थनय भी है और शब्दनय भी है।।१९।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि: ह्न** तथा श्रीमद् आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा भी कहा गया है ह्न' ऐसा कहकर एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहा: ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै–
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।६ ।।[२]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २१८
२. समयसार : आत्मख्याति, कलश ४

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।।
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं।।६।।

जो पुरुष निश्चय और व्यवहार ह्न इन दो नयों के प्रतिपादन में दिखाई देनेवाले विरोध को ध्वंस करनेवाले, स्याद्वाद से चिह्नित जिनवचनों में रमण करते हैं; स्वयं पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का वमन करनेवाले वे पुरुष कुनय से खण्डित नहीं होनेवाले, परमज्योतिस्वरूप अत्यन्त प्राचीन अनादिकालीन समयसाररूप भगवान आत्मा को तत्काल ही देखते हैं अर्थात् उसका अनुभव करते हैं।

उक्त छन्द में इस बात पर बल दिया गया है कि स्याद्वाद ही एक ऐसा अमोघ उपाय है कि जिसके द्वारा परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाला वस्तु-स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है।।६।।

इसके बाद **'तथाहि** ह्न अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं' ह्न ऐसा लिखकर टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव इसी भाव का पोषक एक काव्य स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न संत:
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफा: ।
सपदि समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्ते: किं फलं सज्जनानाम् ।।३६ ।।

(रोला)

जिन चरणों के प्रवर भक्त जिनसत्पुरुषों ने।
नयविभाग का नहीं किया हो कभी उल्लंघन।।
वे पाते हैं समयसार यह निश्चित जानो।
आवश्यक क्यों अन्य मतों का आलोड़न हो।।३६।।

जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में अनुरक्त मत्त भ्रमररूप जो सत्पुरुष

हैं; वे दो नयों की युक्ति का उल्लंघन न करते हुए समयसाररूप शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में उन सत्पुरुषों को पृथ्वीतल पर विद्यमान अन्य मतों के कथनों से क्या लाभ है ?

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान के अनुगामी सत्पुरुष को जब जैनदर्शन की द्विनयात्मक स्याद्वाद शैली से वस्तु का स्वरूप भलीभांति स्पष्ट हो जाता है और उसके बल से वे शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, मोह-राग-द्वेष व दु:खों से मुक्त होने का उपाय प्राप्त कर लेते हैं, उस पर चलकर निज कार्य में सफल हो जाते हैं तो फिर अन्यमतों के कथनों में उलझकर समय व शक्ति व्यर्थ बरबाद करने से क्या लाभ है ?

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन की स्याद्वादशैली से निज भगवान आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर, उसी में अपनापन स्थापित कर, उसी में समा जाना ही श्रेयस्कर है ॥३६॥

इसप्रकार यहाँ नियमसार परमागम का जीवाधिकार और जीवाधिकार पर लिखी गई मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हो जाती है।

जीवाधिकार की समाप्ति के अवसर पर टीकाकार जो पंक्ति लिखते हैं; उसका भाव इसप्रकार है ह्न

''इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों को खिलाने में जो सूर्य समान हैं और पंचेन्द्रियों के फैलाव रहित मात्र शरीर ही है परिग्रह जिनका ह्न ऐसे पद्मप्रभमल-धारिदेव द्वारा रचित नियमसार परमागम की व्याख्या करने वाली इस तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में जीवाधिकार नामक प्रथम श्रुतस्कंध समाप्त होता है।''

देखो, यहाँ टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं को न केवल सुकवियों में श्रेष्ठ बता रहे हैं, साथ ही यह भी घोषित कर रहे हैं कि जिसका छूटना संभव नहीं है ह्न ऐसी देह को छोड़कर मेरे पास अन्य कोई परिग्रह नहीं है; मैं पूर्णत: निर्ग्रन्थ हूँ और मेरे उपयोग का फैलाव पंचेन्द्रियों के विषयों में नहीं है।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि मुनिराज स्वयं अपने मुख से

अपनी स्तुति कर रहे हैं; किन्तु वह समय ऐसा था कि जब भट्टारकों का उदय हो गया था और अपरिमित परिग्रह रखकर भी वे भट्टारक स्वयं को निर्ग्रन्थ दिगम्बर मानते थे, कहते थे। ह्न ऐसी स्थिति में मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव को ऐसा लगा होगा कि भविष्य के लोग मुझे भी ऐसा ही दिगम्बर साधु न समझ लें।

अत: उन्होंने उक्त कथन करके आत्मप्रशंसा नही की, अपितु स्वयं के कवित्व एवं हृदय में विद्यमान दिगम्बरत्व के प्रति अपनी निष्ठा को ही व्यक्त किया है। साथ में दिगम्बर मुनि कैसे होते हैं, कैसे होने चाहिए ह्न यह भी स्पष्ट कर दिया है। ●

जीव और शरीर सर्वप्रकार से भिन्न-भिन्न होकर भी एकत्रित हो गये हैं। उनके एकत्रित हो जाने से वे एक नहीं हो जाते, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

जिसप्रकार एकत्रित व्यक्तियों के समूह को मेला कहा जाता है, पर वस्तुत: उन समूहगत व्यक्तियों में प्रत्येक का व्यक्तित्व रंचमात्र भी विलीन नहीं होता, खण्डित नहीं होता; स्वतंत्ररूप से अखण्डित बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलाप स्वभाववाले व्यक्ति वस्तुत: कभी मिल ही नहीं सकते हैं। मेला तो मेला है, उसमें एकता संभव नहीं है; मेले में एकता खोजना मेले का मेलापन खो देना है।

उसीप्रकार एकत्रित देह और आत्मा को व्यवहार जीव कहा जाता है, पर वस्तुत: देह और आत्मा कभी भी एक नहीं होते, परस्पर विलीन नहीं होते; उनका स्वरूप खण्डित नहीं होता, स्वतंत्र रूप से अखण्डित ही बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलापवाले जड़ और चेतन पदार्थ कभी मिल ही नहीं सकते हैं। जीव और शरीर का भी मेला तो मेला ही है, उनमें एकता खोजना दोनों के स्वरूप को खण्डित कर देना है। **ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७९**

अजीवाधिकार

(गाथा २० से गाथा ३७ तक)

नियमसार गाथा २०

जीवाधिकार समाप्त होने के उपरान्त अब अजीवाधिकार आरंभ करते हैं। अजीवद्रव्यों में सर्वप्रथम पुद्गलद्रव्य की चर्चा आरंभ करने वाली यह गाथा इस अधिकार की पहली और नियमसार शास्त्र की २०वीं गाथा है; जो इसप्रकार है ह्न

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो।।२०।।

(हरिगीत)

द्विविध पुद्गल द्रव्य है स्कंध अणु के भेद से।
द्विविध परमाणु कहे छह भेद हैं स्कंध के।।२०।।

परमाणु और स्कंध के भेद से पुद्गल द्रव्य दो प्रकार का है। इनमें स्कंध छह प्रकार के हैं और परमाणु भी दो प्रकार के होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है। स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल के भेद से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है।

उनमें **परमाणु स्वभावपुद्गल है और स्कंध विभावपुद्गल है।**

कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु के भेद से स्वभावपुद्गल दो प्रकार है। स्कंध छह प्रकार के होते हैं ह्न १. पृथ्वी, २. जल, ३. छाया, ४. चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंध, ५. कर्मयोग्य स्कंध और ६. कर्म के अयोग्य स्कंध।

स्कन्धों के भेद आगे कहे जानेवाले सूत्रों में विस्तार से कहे जायेंगे।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पुद्गल में भी विभाव की चर्चा की गई है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दु:खी होता है। आत्मा में विभाव पर्याय होती है, वह तो दु:खदायक है। पुद्गल में विभाव पर्याय होती है; इसलिए वह दु:खी है और एक परमाणु सुखी है ह्न ऐसा नहीं है। **जीव की विभाव अवस्था में दु:ख और स्वभाव अवस्था में सुख है।**[१]''

उक्त गाथा में पुद्गल के भेदों की नाममात्र चर्चा की है। टीका में भेदों के भी भेद गिना दिये हैं।

जिसप्रकार जीवद्रव्य में स्वभाव और विभाव भावों की बात आती है; उसीप्रकार यहाँ पुद्गल में भी स्वभाव और विभाव के भेद किये हैं।

इतना विशेष है कि **जीव तो विभावभावों के होने पर दुखी होता है, पर पुद्गल नहीं; क्योंकि जिसमें सुख नाम का गुण होता है, उसमें ही दुख नाम की विकारी पर्याय होती है। पुद्गल में सुख नाम का गुण नहीं है; अत: उसके सुखी-दुखी होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।।२०।।**

इस गाथा की टीका के उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

गलनादणुरित्यक्त: पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते।।३७।।

(हरिगीत)

गलन से परमाणु पुद्गल स्कंध पूरणभाव से।
अर लोकयात्रा नहीं संभव बिना पुद्गल द्रव्य के।।३७।।

पुद्गलद्रव्य के गलन अर्थात् भेद से परमाणु और पूरण अर्थात् संघात से स्कंध की उत्पत्ति होती है। इस पुद्गलद्रव्य के बिना लोकयात्रा संभव नहीं है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में दो सूत्र आते हैं; जिनमें कहा गया है कि अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कंध की उत्पत्ति संघात से होती है।[२]

इसी बात को इस छन्द में बताया गया है।।३७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २२४-२२५

२. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-५, सूत्र-२७-२८

नियमसार गाथा २१ से २४

विगत गाथा की टीका के अन्तिम वाक्य में कहा था कि आगामी गाथाओं में स्कंधों की चर्चा विस्तार से होगी। तदनुसार इन गाथाओं में स्कंधों की चर्चा की जा रही है। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं।।२१।।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया।।२२।।
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य।।२३।।
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति।।२४।।

(हरिगीत)

अतिथूल थूल रु थूल-सूक्षम सूक्ष्म-थूल रु सूक्ष्म अर।
अतिसूक्ष्म ये छह भेद पृथ्वी आदि पुद्गल स्वंध के।।२१।।
भूमि भूधर आदि को अति थूल-थूल कहा गया।
घी तेल और जलादि को ही थूल स्वंध कहा गया।।२२।।
धूप छाया आदि को ही थूल-सूक्षम जानिये।
चतु इन्द्रिग्राही स्वंध सूक्षम-थूल हैं पहिचानिये।।२३।।
करम वरगण योग्य जो स्कंध वे सब सूक्ष्म हैं।
जो करम वरगण योग्य ना वे स्वंध ही अति सूक्ष्म हैं।।२४।।

अति स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म ह्न ये छह भेद पृथ्वी आदि स्कंधों के हैं।

भूमि और पर्वत आदि अति स्थूल-स्थूल स्कंध कहे गये हैं और घी, जल और तेल आदि को स्थूल स्कंध जानना चाहिए।

छाया और धूप आदि को स्थूल-सूक्ष्म स्कंध जानो और चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंधों को सूक्ष्म-स्थूल कहा गया है।

कर्मवर्गणा के योग्य स्कंध सूक्ष्म स्कंध हैं और कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कंध अतिसूक्ष्म स्कंध कहे गये हैं।

इन गाथाओं के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह विभावपुद्गल के स्वरूप का कथन है। सुमेरु पर्वत, पृथिवी आदि घन पदार्थ अति स्थूल-स्थूल पुद्गल हैं। घी, तेल, छाछ, दूध और जल आदि समस्त प्रवाही पदार्थ स्थूल पुद्गल हैं। छाया, आताप और अंधकार आदि पदार्थ स्थूल-सूक्ष्म पुद्गल हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल पुद्गल हैं। शुभाशुभ परिणामों द्वारा आनेवाले शुभाशुभ कर्मों के योग्य स्कंध सूक्ष्म पुद्गल हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मों के अयोग्य स्कंध सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल हैं। ह्न गाथाओं का ऐसा अर्थ है। यह विभावपुद्गलों का क्रम है।''

छह प्रकार के पुद्गल स्कन्धों में ह्न

१. जो स्कन्ध छेदन-भेदन होने पर अपने आप जुड़ नहीं सकते; वे काष्ठ-पाषाणादि स्कंध अति स्थूल-स्थूल स्कंध कहे जाते हैं।

२. जो स्कंध छिद जाने पर, भिद जाने पर भी स्वयं जुड़ जाते हैं; वे दूध, जल, घी, तेल आदि स्कंध स्थूल स्कंध कहे जाते हैं।

३. जो स्कंध स्थूल दिखाई देने पर भी भेदे नहीं जा सकते, छेदे नहीं जा सकते, हस्तादि से ग्रहण नहीं किये जा सकते; वे धूप, छाया, अंधकार आदि स्कंध स्थूल-सूक्ष्म स्कंध हैं।

४. चक्षु इन्द्रिय से नहीं दिखनेवाले; किन्तु शेष चार इन्द्रियों से जानेवाले जो स्कंध सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं; वे स्कंध सूक्ष्म-स्थूल स्कंध हैं; क्योंकि वे स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श किये जा सकते हैं, रसना इन्द्रिय से चखे जा सकते हैं, घ्राण इन्द्रिय से सूंघे जा सकते हैं और कर्ण इन्द्रिय से सुने जा सकते हैं।

५. जो स्कंध इन्द्रियज्ञान से नहीं जाने जा सकते, वे कर्मवर्गणारूप स्कंध सूक्ष्म-स्थूल स्कंध हैं।

६. और जो कर्मवर्गणाओं से भी सूक्ष्म हैं ह्न ऐसे द्वि-अणुकादि स्कंध सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कंध हैं।।२१-२४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं की टीका के उपरान्त टीकाकार अन्य शास्त्रों के तीन उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

सबसे पहले **'तथा चोक्तं पचास्तिकायसमये ह्न** तथा ऐसा ही पंचास्तिकाय नामक शास्त्र में कहा है' ह्न ऐसा लिखकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति।।७।।[१]

(दोहा)

पृथवी जल छाया तथा चतु इन्द्रिय के योग्य।
ये छह पुद्गल खंध हैं कर्मयोग्य अनयोग्य।।७।।

पृथवी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल, कर्मयोग्य पुद्गल और कर्मों के अयोग्य पुद्गल ह्न ये छह प्रकार के स्कंध हैं।।७।।

इसके बाद **'उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश ग्रंथ में भी कहा है' ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे।।८।।

(सोरठा)

थूलथूल अर थूल स्थूल-सूक्ष्म पहिचानिये।
सूक्ष्मथूलरु सूक्ष्म सूक्ष्म-सूक्ष्म जानिये।।८।।

स्थूल-स्थूल, इसके बाद स्थूल, इसके बाद स्थूल-सूक्ष्म, फिर सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ह्न ये छह प्रकार के स्कंध जानने चाहिए।।८।।

१. पंचास्तिकाय : आचार्य जयसेन कृत टीका, गाथा ७६ व ७७ के बीच में

इसके बाद **'तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः ह्न** तथा अमृतचंद्राचार्य के द्वारा भी कहा गया है' ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द उद्धृत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।।९।।[१]

(हरिगीत)

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में।।
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है।
आनन्दमय चिद्भाव तो दृगज्ञानमय चैतन्य है।।९।।

इस अनादिकालीन महा-अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि यह जीव तो रागादिरूप पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि अनादिकालीन अज्ञानी को तो एकमात्र वर्णादिवाले पुद्गल द्रव्य ही विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं।

वर्णादि और रागादि भावों से भिन्न भगवान आत्मा जो शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है, ज्ञानानन्दस्वभावी है; वह तो ज्ञानी धर्मात्माओं को ही दिखाई देता है।

अनन्त सुख-शान्ति की प्राप्ति भी ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। अतः आराध्य तो एकमात्र निज भगवान आत्मा ही है। **त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन होना, उसे ही निजरूप जानना और उसमें ही जम जाना, रम जाना, समा जाना ही आत्मा की आराधना है। उक्त भगवान आत्मा आराध्य है और आराधना सहित आत्मा आराधक है।**

१. समयसार : आत्मख्याति, कलश ४४

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ही आराध्य, आराधक और आराधना है। सबकुछ एक इस आत्मा में ही समाहित है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन्।
कुरु रतिमतुलां त्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।३८।।

(दोहा)

पुद्गल में रति मत करो हे भव्योत्तम जीव।
निज में रति से तुम रहो शिवश्री संग सदैव।।३८।।

हे भव्यशार्दूल ! विविध भेदोंवाला पुद्गल, जो तुझे दिखाई दे रहा है; तू उसमें रति मत कर। तू तो चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा में ही अतुल रति कर, जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का वल्लभ होगा।

इस छन्द में भी यही प्रेरणा दी गई है कि हे भव्यजीवो ! विविध भेदोंवाले, विभिन्न रूपों में दिखाई देनेवाले इस पुद्गल द्रव्य के नृत्य में ही मोहित मत रहो, इसमें रति मत करो; क्योंकि इससे तुझे सुख-शान्ति की प्राप्ति होनेवाली नहीं है। **सुख-शान्ति की प्राप्ति तो एकमात्र ज्ञानानन्द-स्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से एवं उसमें ही रत रहने से होगी।**

अतः हे आत्मन् ! तू तो एक उसमें ही रति कर; क्योंकि इससे ही तुझे परमश्रीरूपी कामिनी अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होगी।।३८।। ●

जिनके संसार-सागर का किनारा समीप आ गया होगा, वे इतने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होनेवाला नहीं है; अतः अधिक प्रलाप से क्या लाभ है। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८८**

नियमसार गाथा २५

विगत गाथाओं में पुद्गलद्रव्य के परमाणु और स्कंध के भेदों में से स्कंधों के संबंध में चर्चा की। अब इस गाथा में परमाणु के संदर्भ में कार्यपरमाणु और कारणपरमाणु की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणु।।२५।।

(हरिगीत)

जल आदि धातु चतुष्क हेतुक कारणाणु कहा है।
अर खंध के अवसान को ही कारयाणु[१] कहा है।।२५।।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ह्न इन चार धातुओं का जो हेतु है; वह कारणपरमाणु है और स्कंधों के अवसान (पृथक् हुए अविभागी अंतिम अंश) को कार्यपरमाणु जानना चाहिए।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कारणपरमाणुद्रव्य और कार्यपरमाणुद्रव्य का कथन है।

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ह्न ये चार धातुयें हैं और उनका जो हेतु है, वह कारणपरमाणु है। वही परमाणु, एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होने से, सम या विषम बंध के लिए अयोग्य जघन्य परमाणु है ह्न ऐसा अर्थ है।

एक गुण स्निग्धता या रूक्षता के ऊपर, दो गुणवाले का और चार गुणवाले का समबंध होता है तथा तीन गुणवाले का और पाँच गुणवाले का विषम बंध होता है ह्न यह उत्कृष्ट परमाणु है।

गलते अर्थात् पृथक् होते हुए पुद्गलद्रव्यों की अन्तिम दशा में स्थित वह कार्यपरमाणु है। तात्पर्य यह है कि स्कंध के खण्डित होते-

१. कार्याणु ह्न कार्यपरमाणु।

होते जो छोटे से छोटा अविभागी भाग रहता है, वह कार्यपरमाणु है।

इसप्रकार परमाणुओं के चार प्रकार हैं ह्न १. कार्यपरमाणु, २. कारणपरमाणु, ३. जघन्यपरमाणु और ४. उत्कृष्टपरमाणु।

वह परमाणु द्रव्य स्वरूप में स्थित होने से उसमें विभाव का अभाव है; इसलिए वह परमस्वभाव है।''

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ पुद्गल के पिण्ड (स्कंध) होने के कारणरूप परमाणु को कारणपरमाणु और पिण्ड (स्कंध) से छूटे हुए परमाणु को कार्यपरमाणु कहा है। तात्पर्य यह है कि चूंकि परमाणुओं से स्कंध बनता है, इसकारण परमाणु को कारणपरमाणु कहते हैं; क्योंकि वह स्कंध बनने का कारण है।

जब किसी स्कंध का बिखराव अन्तिम बिन्दु तक होता है अर्थात् एक परमाणु बिलकुल अकेला रह जाता है; तब उस परमाणु को कार्य-परमाणु कहते हैं।

कारणपरमाणु, जघन्यपरमाणु, उत्कृष्टपरमाणु और कार्यपरमाणु ह्न इसप्रकार परमाणुओं के चार प्रकार भी कहे गये हैं।

१. पृथवी, जल, अग्नि और वायु ह्न इन चार धातुओं का हेतु **कारणपरमाणु है।**

२. एक गुण स्निग्धता या एक गुण रूक्षतावाला बंध के अयोग्य परमाणु **जघन्य परमाणु** है।

३. एक गुण से अधिक स्निग्धता या रूक्षतावाला जो परमाणु बंध के योग्य है, वह **उत्कृष्ट परमाणु** है।

४. खण्डित होते-होते जो स्कंध का छोटे से छोटा अविभागी अंश रहता है; वह **कार्यपरमाणु** है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में उक्त संदर्भ में आठ सूत्र[१] आते हैं; उनमें भी पौद्गलिक बंध के संदर्भ में चर्चा की गई है।

१. **अणवः स्कन्धाश्च**-पुद्गलद्रव्य अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।।२५।।, **भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते**-परमाणुओं के भेद (अलग होने से) संघात (मिलने से) अथवा भेद- संघात दोनों से पुद्गल स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।।२६।।, **भेदादणुः**-अणु की उत्पत्ति भेद से होती है।।२७।।, **भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः**-चक्षुइन्द्रिय से देखनेयोग्य स्कन्ध भेद और संघात ह्न दोनों के एकत्र रूप होने से उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नहीं।।२८।।, **स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः**-चिकने और रूखे के कारण परमाणुओं का बंध होता है।।३३।।, **न जघन्यगुणानाम्**-जघन्य गुण सहित परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।।३४।।, **गुणसाम्ये सदृशानाम्**-गुणों की समानता हो, तब समान जातिवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।।३५।।, **द्वयधिकादिगुणानां तु**-दो अधिक गुणवाले के साथ ही बन्ध होता है।।३६।।, **बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**-बन्ध के समय दो अधिक शक्त्यंश दो हीन शक्त्यंश का परिणमन करानेवाले होते हैं।।३७।।

यदि उक्त संदर्भ में विशेष जानकारी की भावना हो तो तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक का स्वाध्याय करना चाहिए।।२५।।

इसके बाद **'तथा चोक्तं प्रवचनसारे ह्न** तथा प्रवचनसार में भी कहा है' ह्न कहकर टीकाकार दो गाथायें उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्न

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा वा विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा।।१०।।
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।११।।[१]

(हरिगीत)

परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो।।१०।।
दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हो यदि चार तो।
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो।।११।।

परमाणु के परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों; यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बंधते हैं, जघन्य अंशवाले नहीं बँधते।

दो अंशोंवाला स्निग्ध परमाणु, चार अंशोंवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ बंधता है अथवा तीन अंशोंवाला रूक्ष परमाणु, पाँच अंशोंवाले के साथ युक्त होकर बंधता है।

इसके बाद **'तथाहि'** कहकर एक छन्द टीकाकार स्वयं प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. प्रवचनसार, गाथा १६५-१६६

(अनुष्टुप्)

स्कन्धैस्तै: षट्प्रकारै: किं चतुर्भिरणुभिर्मम।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहः ।।३९ ।।

(वीर)

छह प्रकार के खंध और हैं चार भेद परमाणु के।
हमको क्या लेना-देना इन परमाणु-स्कंधों से।।
अक्षय सुखनिधि शुद्धातम जो उसे नित्य हम भाते हैं।
उसमें ही अपनापन करके बार-बार हम ध्याते हैं।।३९।।

इन छह प्रकार के स्कंधों और चार प्रकार के परमाणुओं से मुझे क्या लेना-देना है ? मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को बार-बार भाता हूँ, ध्याता हूँ।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव परम आध्यात्मिक संत हैं और यह नियमसार परमागम उन्होंने स्वयं की भावना की पुष्टि के लिए लिखा है; अत: यह ग्रंथ भी परमाध्यात्मिक ग्रन्थराज है। इसकारण इस अजीवाधिकार में पुद्गल संबंधी उक्त विवेचन में उनका मन विशेष नहीं रमा।

अत: उन्होंने मूल गाथाओं में ही कह दिया कि इसका विस्तार अन्य ग्रन्थों से जान लेना।

इस ग्रंथ के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस मामले में उनसे भी चार कदम आगे चलते दिखाई देते हैं।

इसप्रकार का विवेचन करने के उपरान्त वे जो छन्द लिखते हैं; **उनमें बार-बार यह स्पष्ट कर देते हैं कि हमें इससे क्या प्रयोजन है, हम तो अपने शुद्धात्मा में जाते हैं।**

इसप्रकार की भावना व्यक्त करनेवाले अनेक छन्दों में एक छन्द यह भी है।।३९।। ●

यदि हमें अपने इस परिभ्रमण को रोकना है, संसारचक्र को तोड़ना है तो स्वयं के उपयोग को स्वयं में जोड़ना होगा, सम्पूर्ण जगत से नाता तोड़ना होगा और स्वयं को जानकर-पहिचानकर स्वयं में ही समा जाना होगा। ह्न यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं ह्न यही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८०

नियमसार गाथा २६

विगत गाथा में आरंभ की गई परमाणु के प्रकारों की चर्चा के उपरान्त इस गाथा में परमाणु के स्वरूप पर विचार करते हैं ह्न

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि।।२६।।

(हरिगीत)

इन्द्रियों से ना ग्रहे अविभागि जो परमाणु है।
वह स्वयं ही है आदि एवं स्वयं ही मध्यान्त है।।२६।।

आदि, मध्य और अन्त से रहित, इन्द्रियों से अग्राह्य और जिसका विभाग संभव नहीं है ह्न ऐसा अविभागी पुद्गलपरमाणु द्रव्य है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमाणु का विशेष कथन है। जिसप्रकार सहज परम-पारिणामिक भाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले सहज शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा नित्यनिगोद और अनित्यनिगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है; उसीप्रकार पंचम भाव की अपेक्षा परमाणु द्रव्य का परमस्वभाव होने से परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है, स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य है और स्वयं ही अपना अन्त भी है।

तात्पर्य यह है कि परमाणु आदि, मध्य और अन्त में स्वयं ही है; वह कभी भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता।

जैसा ऊपर कहा है, वैसा होने से; इन्द्रियज्ञानगोचर न होने से और पवन, अग्नि आदि से नष्ट न होने से जो अविभागी है; हे शिष्य तू उसे परमाणु जान।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''तीर्थंकर भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं, वे सभी अतीन्द्रिय हैं। एक भी पदार्थ इन्द्रियग्राह्य नहीं है। **जो स्थूल दिखता है, वह मूल द्रव्य नहीं है, वह तो पुद्गल की वैभाविक अवस्था है। मूल वस्तु तो परमाणु है और वह अतीन्द्रियज्ञान का विषय है। अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य अतीन्द्रिय पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।**

परमाणु अतीन्द्रिय है, वह उग्र अवधिज्ञान का विषय है और अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है। **विभंगज्ञानी अर्थात् कुअवधिज्ञानी परमाणु को नहीं जानता।** इससे यह निश्चित हुआ कि परमाणु का ज्ञान अवधिज्ञान बिना नहीं होता और अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान बिना नहीं होता और सम्यग्ज्ञान अतीन्द्रिय आत्मा के ज्ञान के बिना नहीं होता; अत: **अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान ही श्रेयस्कर है।**[१]

यहाँ टीकाकार मुनिराज परमाणु को आत्मा के साथ जोड़कर उदाहरण के द्वारा समझाते हैं कि पंचमभाव की अपेक्षा से परमाणुद्रव्य का परमस्वभाव स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है और स्वयं ही अपनी परिणति का अंत भी है।

वह आदि में भी स्वयं ही, मध्य में भी स्वयं ही एवं अंत में भी स्वयं ही है; क्योंकि वह अपने निजस्वरूप से च्युत नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने आदि, मध्य और अंत में रहती है।

परिणति कहने से पर्याय का वर्णन नहीं हो रहा है; अपितु आदि, मध्य और अंत ह्न ऐसे तीन प्रकार बताने के लिए परिणति शब्द का प्रयोग किया गया है, पर बात तो द्रव्य की ही है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि पौद्गलिक परमाणु ही मूलत: पुद्गल द्रव्य है; क्योंकि स्कंध तो पुद्गल द्रव्य की समानजातीय द्रव्यपर्याय है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २४१-२४२
२. वही, फरवरी २००८, पृष्ठ २४३

यद्यपि उक्त परमाणु रूपी पदार्थ है; अत: उसे इन्द्रियग्राह्य होना चाहिए था; क्योंकि इन्द्रियाँ रूपी पदार्थों को जानने में निमित्त होती हैं; तथापि परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं है; क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि छह द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य मूलत: इन्द्रियग्राह्य नहीं है; सभी पदार्थ अतीन्द्रिय ज्ञान के ही विषय हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि अकेला केवलज्ञान ही अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं; क्योंकि वे अपने-अपने विषय को इन्द्रियों के सहयोग के बिना ही जानते हैं। परमाणु भी विशेष प्रकार के सम्यक् अवधिज्ञान का विषय है।

एक बात यह भी ध्यान रखने योग्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषय छहों द्रव्य हैं तथा परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ अनुमानादि रूप मतिज्ञान और आगमरूप श्रुतज्ञान से भी जाने जाते हैं।

ध्यान रहे अकेले प्रत्यक्ष जानने को ही जानना नहीं कहते, परोक्षज्ञान भी ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञानरूप भी होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि परमाणु को मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्षरूप से नहीं जान सकते; क्योंकि वे ज्ञान परोक्षज्ञान ही हैं।।२६।।

अन्त में टीकाकार एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मन:।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठंति स्वस्वरूपे चिदात्मनि।।४०।।

(दोहा)

जब जड़ पुद्गल स्वयं में सदा रहे जयवंत।
सिद्धजीव चैतन्य में क्यों न रहे जयवंत।।४०।।

जब जड़रूप पुद्गल स्वयं में स्थित रहता है; तब वे सिद्ध भगवान अपने चैतन्यात्मस्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे ?

तात्पर्य यह है कि रूपी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। अत: **जड़ पुद्गल भी अपने स्वरूप में रहता है और चैतन्य आत्मा भी स्वस्वरूप में ही रहते हैं।।४०।।** ●

नियमसार गाथा २७

विगत गाथा में परमाणु संबंधी विशेष व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं।।२७।।

(हरिगीत)

स्वभाव गुणमय अणु में इक रूप रस गंध फरस दो।
विभाव गुणमय स्कंध तो बस प्रगट इन्द्रिय ग्राह्य है।।२७।।

जो पुद्गल एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श वाला हो; वह पुद्गल स्वभाव गुणवाला है और विभाव गुणवाला पुद्गल तो प्रगटरूप से इन्द्रियग्राह्य है ह्न जैनागम में ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान है। चरपरा, कड़वा, कसायला, खट्टा और मीठा ह्न इन पाँच रसों में से कोई एक रस; सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ह्न इन पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण; सुगंध और दुर्गन्ध में से कोई एक गंध तथा कड़ा-नरम, हल्का-भारी, ठंडा-गरम और रूखा-चिकना ह्न इन आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में से अविरुद्ध दो स्पर्श ह्न **ये पाँच जिनेश्वर के मत में परमाणु के स्वभावगुण हैं।**

विभावपुद्गल विभावगुणात्मक होता है। दो परमाणुओं से लेकर अनंत परमाणुओं से बना हुआ स्कंध विभावपुद्गल है। विभावपुद्गल के विभावगुण सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हैं, जानने में आने योग्य हैं ह्न ऐसा गाथा का अर्थ है।''

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक गाथा और एक छन्द उद्धृत

करते हैं तथा उसके बाद एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं।

'तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये ह्न तथा पंचास्तिकाय नामक शास्त्र में कहा है' ह्न ऐसा कहकर टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव जो गाथा उद्धृत करते हैं; वह गाथा इसप्रकार है ह्न

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि।।१२।।[१]

(हरिगीत)

एक रस गंध वर्ण एवं फास दो जिसमें रहें।
वह शब्द का कारण अशब्दी खंद में परमाणु है।।१२।।

एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शवाला परमाणु शब्द का कारण है, स्वयं अशब्द है और स्कंध के भीतर है; तथापि द्रव्य है।।१२।।

इसके बाद **'उक्तं च मार्गप्रकाशे ह्न** मार्गप्रकाश नामक ग्रंथ में कहा है' ह्न ऐसा कहकर जो छन्द लिखते हैं; वह इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

वसुधान्त्यचतु:स्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम्।
वर्णो गन्धो रसश्चैक: परमाणो: न चेतरे।।१३।।

(हरिगीत)

अष्टविध स्पर्श अन्तिम चार में दो वर्ण इक।
रस गंध इक परमाणु में हैं अन्य कुछ भी है नहीं।।१३।।

परमाणु में आठ प्रकार के स्पर्शों में अन्तिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध और एक रस होता है, अन्य नहीं।।१३।।

मूल गाथा, उसकी टीका और उसमें समागत उद्धरणों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''कोमल-कठोर, हल्का-भारी, शीत-ऊष्ण और स्निग्ध-रूक्ष इन आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों के अविरुद्ध दो स्पर्श ह्न ये जिनमत में परमाणु के स्वभाव गुण कहे गये हैं।

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा ८१

देखो ! स्पर्श की कोमल, कठोर इत्यादि आठ पर्यायें हैं न ! एक तो परमाणु में इन आठ पर्यायों में से अन्तिम चार स्पर्शों के अविरुद्ध दो स्पर्श होते हैं। अर्थात् ऊष्णपर्याय होवे तो उस समय शीतपर्याय नहीं होती और शीतपर्याय के समय ऊष्णपर्याय नहीं होती; परन्तु शीतपर्याय और स्निग्धपर्याय अथवा ऊष्णपर्याय और स्निग्धपर्याय एक साथ हो सकती है अथवा शीतपर्याय और रूक्षपर्याय एक साथ हो सकती है।

अहा ! यहाँ परमाणु की पर्याय लेना है न ! तो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और ऊपर कहे गये आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में अवरुद्ध दो स्पर्श ह्न इसप्रकार परमाणु के स्वभावगुण अर्थात स्वभाव-पर्यायें वीतराग भगवान के ज्ञान में हैं।[१]

दो परमाणुओं से लेकर अनंत परमाणुओं का बना हुआ स्निग्ध विभावपुद्गल है और उस विभावपुद्गल की विभावपर्यायें होती हैं। यहाँ विभावगुण का अर्थ विभावपर्याये हैं।[२]

स्कन्ध में विभावरूप परिणाम होने पर भी उसमें स्थित परमाणु तो अकेला है, शुद्ध एक द्रव्य है। वस्तुरूप से देखने पर वह शुद्ध द्रव्य पर के संबंध से रहित भिन्न वस्तु है। अहा ! अपने छोटे क्षेत्र में रहने पर भी वह परमाणु अपने स्वचतुष्टय में ही है ह्न ऐसी बात सर्वज्ञ के अलावा और कौन कह सकता है ?[३]''

पौद्गलिक परमाणु में पाँच रसों में से कोई एक रस, पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण, दो गंधों में से कोई एक गंध और आठ स्पर्शों में से दो स्पर्श ह्न इसप्रकार पाँच गुण होते हैं। **ध्यान रहे यहाँ पर्यायों को ही गुण कहा जा रहा है।**

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आठ स्पर्शों में से कौन से दो स्पर्श लेना हैं ?

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २४७-२४८
२. वही, पृष्ठ २४८
३. वही, पृष्ठ २४८-२४९

इसके उत्तर में कहते हैं कि शीत और उष्ण तथा रूक्ष और स्निग्ध ह्न इन चार स्पर्शों के एक साथ रह सकने योग्य चार जोड़े बनेंगे।

वे चार जोड़े इसप्रकार हैं ह्न १. शीत-स्निग्ध, २. शीत-रूक्ष, ३. उष्ण-स्निग्ध और ४. उष्ण-रूक्ष।

परमाणु में उक्त चार जोड़ों में से कोई एक जोड़ा रहेगा।

इसके उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं अपनी ओर से भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः।
इति निजहृदि मत्त्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः ।।४१।।

(दोहा)

वरणादि परमाणु में रहें न कारज सिद्धि।
माने भवि शुद्धात्म की करे भावना नित्य।।४१।।

यदि परमाणु उक्त एक वर्णादिरूप प्रकाशित होते हुए निजगुण समूह में है तो उसमें मेरी कोई कार्यसिद्धि नहीं होती।

इसप्रकार अपने हृदय में मानकर परमसुख का अर्थी भव्यसमूह एकमात्र शुद्ध आत्मा की भावना करें।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा कहते हैं कि जो यह एक-एक रजकण परमाणु है, वह स्वयं के गुण-पर्याय में रहता है, आत्मा में नहीं रहता; इसलिए हम जड़ और उसके गुणों को जानकर अपने गुण में रहेंगे। जब जड़ अपने गुणों में रहता है तो मैं चेतन अपने में क्यों न रहूँ। अहा ! मैं तो भगवान आत्मा हूँ, जिसमें ज्ञान, आनन्द और शांति भरी है।

वे रजकण उनकी शक्ति और दशा में रहते हैं; परन्तु उससे हमारी

कोई कार्यसिद्धि नहीं है। हमारे अपने गुणों में रहने में ही हमारी कार्य-सिद्धि है।[१]

मैं अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यमय धातु हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ ह्न ऐसे निजस्वरूप के सन्मुख होकर उसमें एकाग्र होना, ध्यान में उसकी भावना करना, वर्तमान ज्ञान की दशा का ध्येय-विषय ध्रुव को बनाना ह्न उसको भावना कहा जाता है और उसी का नाम धर्म है।[२]

भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ कहते हैं कि जो भव्यसमूह जीव हैं; वे एक शुद्धात्मा को भावे अर्थात् जिसमें अनन्त शक्ति, अनन्त शांति, अनन्त आनन्द आदि अपरिमित गुण पड़े हैं ह्न ऐसे भगवान में अन्तर-एकाग्र होकर उस एक की भावना करे, इसी का नाम धर्म है और यही मुक्ति का उपाय है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि परमाणु की स्थिति जो कुछ भी हो; पर उससे मुझे क्या प्रयोजन है; क्योंकि मेरे आत्म-कल्याणरूप कार्य की सिद्धि से उसका कोई संबंध नहीं है।

मेरे कार्य की सिद्धि तो एकमात्र शुद्धात्मा की आराधना से होगी। अत: मैं तो निज शुद्धात्मा की भावना भाता हूँ, उसी को ध्याता हूँ।।४१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २५५-२५६
२. वही, पृष्ठ २५७ ३. वही, पृष्ठ २५८

जिसके पास विवेक की ढाल है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैराग्य का बल है, उस पर आँसुओं की बौछारों का असर नहीं होता।

महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। 'मन में हो और मूंढ हिलावे' वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-३६ व ३७

नियमसार गाथा २८

विगत गाथा में स्वभावपुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में पुद्गलपर्याय के स्वरूप का व्याख्यान करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ।।२८।।

(हरिगीत)

स्वभाविक पर्याय पर निरपेक्ष ही होती सदा।
पर विभाविक पर्याय तो स्कंध ही होता सदा।।२८।।

अन्य की अपेक्षा से रहित जो परिणाम है; वह स्वभावपर्याय है और स्कंधरूप परिणाम विभावपर्याय है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गलपर्याय के स्वरूप का व्याख्यान है। परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की शुद्ध पर्याय है। वह परमाणु पर्याय परमपारिणामिकभाव स्वरूप है, षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है। सादि-सान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयात्मक है अथवा एक समय में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्मऋजूसूत्रनयात्मक है।

स्कंधपर्याय स्वजातीयबंधरूप लक्षण से लक्षित होने से अशुद्ध है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो यह एक पृथक रजकण-परमाणु है, वह पुद्गल की शुद्धपर्याय है। अहा ! जो परमाणु स्कन्ध में शामिल है, यदि वह पृथक होवे तो वह परमाणु की पर्याय परमपारिणामिकभावस्वरूप पुद्गल की शुद्धपर्याय है।

प्रश्न ह्न आत्मा में तो पाँचभाव हैं, इसलिये उसमें पंचमभाव लिया

जा सकता है, परन्तु परमाणु में तो पूर्व के चार भाव ही कहाँ हैं जो उसमें पंचमभाव लिया जाये ?

उत्तर ह्न भाई ! पंचमभाव का अर्थ यह है कि जैसे जीव में त्रिकाली भाव है, वैसे ही परमाणु में भी त्रिकाली भाव है। अर्थात् **आत्मा के त्रिकालीभावरूप पंचमभाव की तरह परमाणु में भी त्रिकालीभाव है** ह्न ऐसा यहाँ कहना है। देखो ! **यहाँ तो परमाणु की पर्याय को भी परम-पारिणामिकभाव कहा है।**

परमाणु की पर्याय नई उत्पन्न होती है और उसका नाश होता है अर्थात् परमाणुरूप पर्याय सादि-सांत होने पर भी, वह पर की अपेक्षा रहित है और इस कारण परमाणु की वह अकेली पर्याय शुद्ध है। तथा वह अस्तित्व धारण करती है, इसलिये सद्भूत है और एक समय की पर्याय होने से व्यवहारनयस्वरूप है।[१]

परमाणु में उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव नहीं है, इसलिये उसको पारिणामिकभाव कहा है।[२]

अब गाथा के दूसरे भाग की बात आती है ह्न ये जो परमाणु इकट्ठे हुये हैं, वे स्कन्ध हैं, पिण्डरूप हैं और स्वजातीय बंधरूप अर्थात् एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एकरूप रहना ह्न इस लक्षण से लक्षित होने के कारण अशुद्ध हैं अर्थात् विभाव है।

गाथा में विभाव शब्द आया है, जबकि टीका में अशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है।

पुद्गल पर्याय परमाणु में शुद्ध है और यदि वह स्कन्धरूप होवे तो अशुद्ध है ह्न ऐसे पुद्गल पर्याय के दो प्रकार हैं। इसीतरह भगवान आत्मा रागादिरूप होवे तो वह अशुद्ध है और वह स्वभाव में रहे तो शुद्ध है ह्न ऐसी बात है।[३]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अन्य की अपेक्षा से रहित

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २६१
२. वही, पृष्ठ २६२ ३. वही, पृष्ठ २६२

होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल द्रव्य की शुद्धपर्याय है और समान-जातीयबंधरूप स्कंधपर्याय विभाव पर्याय है। **पुद्गल द्रव्य की परमाणुरूप शुद्ध अर्थपर्याय षट्गुणी हानिवृद्धिरूप है, अत्यन्त सूक्ष्म है और परमपारिणामिकभावस्वरूप है।**

नयों की दृष्टि से विचार करने पर यह या तो अनुपचरितसद्भूत-व्यवहारनय का विषय बनेगी या फिर सूक्ष्मऋजुसूत्रनय का विषय बनेगी।।२८।।

टीका के अन्त में टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः।
भगवति जिननाथे पंचबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव।।४२।।

(दोहा)

जिसप्रकार जिननाथ के कामभाव न होय।
उस प्रकार परमाणु के शब्दोच्चार न होय।।४२।।

जिसप्रकार भगवान जिननाथ में पंचबाण के धारी कामदेव की वार्ता नहीं होती; उसीप्रकार परपरिणति से दूर और शुद्धपर्यायरूप होने से परमाणु को स्कंधपर्यायरूप शब्द नहीं होता।

देखो, टीकाकार मुनिराज की जिनभक्ति। कहीं कोई प्रसंग न होने पर भी उदाहरण के रूप में ही सही, वे कामविकार से रहित जिननाथ को याद कर ही लेते हैं।

बात तो मात्र यह बतानी थी कि परमाणु अशब्द होता है; पर इस बात को भी वे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि **जिसप्रकार जिननाथ कामविकार से रहित हैं; उसीप्रकार परमाणु शब्दोच्चारण का कारण नहीं है; अतः अशब्द है।।४२।।** ●

नियमसार गाथा २९

विगत गाथाओं में पुद्गल द्रव्य का व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में पुद्गलद्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स।।२९।।

(हरिगीत)

परमाणु पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है परमार्थ का।
स्कंध पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है व्यवहार का।।२९।।

निश्चयनय से परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहा जाता है और व्यवहारनय से स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह पुद्गल द्रव्य के कथन का उपसंहार है। शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्यायात्मक परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहते हैं और व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक पौद्गलिक स्कंध उपचार से पुद्गलद्रव्य सिद्ध होता है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो ! क्या कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्याय स्वरूप परमाणु को ही अर्थात् जो पर से भिन्न है ह्न ऐसे निर्मल पर्यायवाले परमाणु को ही पुद्गलद्रव्य कहा गया है।

भाई ! स्कन्ध को पुद्गलद्रव्य कहना तो उपचार है; क्योंकि वे सब स्कन्ध तो इकट्ठे हुये जड़ परमाणुओं का जत्था है, वह कोई एक वस्तु नहीं है; इसलिये जो अकेला परमाणु है, जिसको स्वभावशुद्धपर्याय है, उसको ही ह्न वास्तव में पुद्गलद्रव्य कहा है।

इसीतरह आत्मा में राग और पुण्य-पाप रहित अर्थात् निर्मलपर्याय से सहित आत्मा को ही आत्मा कहा जाता है।[१]''

देखो, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि गाथा और तात्पर्यवृत्ति टीका में तो मात्र इतना ही लिखा है कि शुद्धपर्यायरूप से परिणमित अकेला एक पुद्गल परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है; स्कन्ध को तो व्यवहार से पुद्गल कहा जाता है; परन्तु स्वामीजी उक्त पुद्गलद्रव्य संबंधी कथन को आत्मा पर भी घटित करते हैं। कहते हैं कि जिसप्रकार शुद्धपरमाणु ही निश्चय से पुद्गलद्रव्य है, स्कंध को पुद्गल कहना तो व्यवहार है; उसीप्रकार **शुद्ध पर्यायरूप से परिणमित आत्मा ही निश्चय आत्मा है, देहादि संयोग व रागादि विकार सहित आत्मा को आत्मा कहना तो व्यवहार है।।२९।।**

इस गाथा की टीका लिखने के बाद मुनिराज तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजात:
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ।।४३।।

(हरिगीत)

जिनवरकथित सन्मार्ग से तत्त्वार्थ को पहिचान कर।
पररूप चेतन-अचेतन को पूर्णत: परित्याग कर।।
हे भव्यजन ! नित ही भजो तुम निर्विकल्प समाधि में।
निजरूप ज्ञानानन्दमय चित्चमत्कारी आत्म को।।४३।।

हे भव्यजीवो ! इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग से तत्त्वार्थों को जानकर पररूप चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को छोड़ो और अंतरंग निर्विकल्प समाधि में पर से भिन्न चित्चमत्कारमात्र निज परमात्मतत्त्व को भजो, अपने आत्मा की आराधना करो, साधना करो।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २६४-२६५

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आशय यह है कि जैन परमेश्वर के मार्ग के अतिरिक्त किसी अन्यमत में तत्त्व की यह बात नहीं हो सकती। इसलिये उन जिनपति के मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूह को जानकर पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन को त्यागो।

देखो ! यहाँ कहते हैं कि स्त्री, पुत्र का आत्मा परचेतन है और देव-शास्त्र-गुरु का आत्मा भी परचेतन है। अत: उनको दृष्टि में से त्यागो अर्थात् वे मेरे नहीं है ह्न ऐसा जानकर उनको दृष्टि में से छोड़ो।

देखो ! अरिहंत भगवान इस आत्मा से परचेतन हैं, सिद्धभगवान इस आत्मा से परचेतन हैं। अरे ! पाँचों परमेष्ठी इस आत्मा से परचेतन हैं। वे पर हैं; क्योंकि वे इस आत्मा के कहाँ हैं ? अत: उन समस्त परचेतन और अचेतन रागादि पुद्गल विकारों को और देहादि पुद्गलों को दृष्टि में से त्यागो। भाई ! जो तेरे में नहीं है, उनकी दृष्टि छोड़ और जो तेरे में है, वहाँ दृष्टि कर !

देखो यहाँ क्या कहते हैं कि अन्तर में इस आत्मा के सिवा अन्य सभी आत्मायें तुझसे भिन्न है। यहाँ तक कि निगोद से लेकर अरहंत-सिद्ध परमात्मा आदि पंचपरमेष्ठी भी तेरे नहीं हैं अर्थात् वे तेरे आधार से नहीं रह रहे हैं, वे तो स्वयं से रहे हुये हैं, इसलिये तुझको उनसे कुछ लाभ नहीं है।[१]

अरे ! भगवान की भक्ति का भाव हो तो वह भी राग होने से अचेतन ही है; इसलिये उसका भी लक्ष्य छोड़ दे तथा शरीर के परमाणु अनुकूल रहें तो मेरा धर्म टिका रह सकता है ह्न यह भी लक्ष्य में से निकाल दे और अंतरंग में निर्विकल्प समाधि में अर्थात् अंतरंग में राग रहित शांति और श्रद्धा की दशा में, परविरहित अर्थात् रागरहित अपने चैतन्यचमत्कार तत्त्व को भज![२]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २६८-२६९ २. वही, पृष्ठ २७०

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि **यदि आत्मकल्याण करना है तो सर्वप्रथम जिनागम के आधार से वस्तुस्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त अपने से भिन्न चेतन-अचेतन सभी परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, परपदार्थों पर से दृष्टि हटाकर स्वयं में ही समा जाना चाहिए।**

ध्यान रहे परचेतन पदार्थों में न केवल अपने स्त्री-पुत्रादि ही आते हैं; अपितु पंचपरमेष्ठी भी आते हैं। अत: स्वयं में समा जाने के लिए, समाधिस्थ हो जाने के लिए उन पर से दृष्टि हटानी होगी, उन्हें भी पर रूप ही जानना-मानना होगा; उन पर से भी उपयोग को हटाकर अपने आत्मा में केन्द्रित होना होगा।।४३।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निषपन्नयोगिनाम् ।।४४।।

(हरिगीत)

पुद्गल अचेतन जीव चेतन भाव अपरमभाव में।
निष्पन्न योगीजनों को ये भाव होते ही नहीं।।४४।।

पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है ह्न ऐसे भाव (विकल्प) प्राथमिक भूमिकावालों को ही होते हैं, निष्पन्न योगियों को नहीं होते।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अहा ! कहते हैं कि शुरुआत में अभी जिसको भेद करके ध्यान करना है, उसको ऐसा विकल्प होता है कि यह रागादिक पर अचेतन हैं और आत्मा (स्वयं) चेतन है। मुमुक्षुजीव को यह विचार प्रारंभिक भूमिका में ही होता है; परन्तु निष्पन्न योगियों को अर्थात् जिनका योग परिपक्व हुआ है, उनको नहीं होता।

जहाँ अन्दर में स्वभावसन्मुखता की रमणता उग्ररूप से प्रगट हुई है, उस योगी को ऐसी कल्पना नहीं होती कि यह राग अचेतन है और मैं चेतन हूँ; अपितु वह तो ज्ञाता-दृष्टारूप परिणमता है।

अहा ! जिसप्रकार सिद्धभगवान जानते-देखते हैं; उसीप्रकार यह जीव भी जानने-देखने के स्वभावरूप रहता है।

जिन्हें स्वरूप में स्थिरतारूप ध्यान नहीं है, उनको यह अचेतन है और यह चेतन ह्न इसप्रकार दो विभागरूप विकल्प होते हैं; परन्तु जो ज्ञान और आनन्दस्वभाव में लीन होते हैं, जमते हैं, उन्हें विकल्प नहीं होते।[१]

जगत में पुद्गल हैं, स्कन्ध हैं, स्कन्ध छहप्रकार के हैं, स्वाभाविक कारणपरमाणु है, कार्यपरमाणु है, उत्कृष्ट और जघन्य परमाणु हैं ह्न ऐसा कहकर उसमें से सार यह निकाला कि वे सब भले ही हों; परन्तु मेरा उनके साथ कोई संबंध नहीं है।

पहले विचार में यह बात जरूर आती है कि पुद्गल तथा जो रागादि भाव हैं, वे अचेतन हैं और मैं उनको जाननेवाला एक चेतन हूँ; इसलिये मुझे निजचेतन में स्थिर होना चाहिये।

जहाँ प्रारंभ में यह विचार होता है, वहाँ स्थिरता नहीं होती; परन्तु निष्पन्न योगियों को उग्रपने आत्मा और राग की भिन्नता होकर, योग परिपक्वता अर्थात् स्थिरता हुई है। उनको स्वभाव में जिसकी एकाग्रता हुई है; उसकी कल्पना नहीं होती। इसी का नाम स्वभावसन्मुख की एकाग्रता है और यही मोक्ष का मार्ग है।

प्रश्न ह्न प्राथमिक भूमिका में अर्थात् मिथ्यादृष्टि ही न...?

उत्तर ह्न नहीं, सम्यग्दृष्टि भी; क्योंकि सम्यग्दृष्टि होने पर भी अभी जहाँ तक यह चेतन है और अचेतन है ह्न ऐसी विचारधारा चलती है, वहाँ तक उसको निष्पन्न स्थिरता नहीं हुई है ह्न ऐसा कहते हैं; तथापि वह है समकिती।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २७१-२७२

प्रश्न ह्न समकिती को चेतन तो प्राप्त हुआ है न ?

उत्तर ह्न हाँ, तो भी विकल्प है न ! उसको चेतन तो प्राप्त ही है; तथापि अभी विकल्प है। इसकारण उसे यह चेतन है और अचेतन है ह्न ऐसा भाव (विकल्प) आता है।

प्रश्न ह्न क्या शास्त्र लिखनेवाले प्राथमिक भूमिका में हैं ?

उत्तर ह्न नहीं, वे प्राथमिक भूमिका में नहीं हैं। वे तो अपने में जम रहे हैं और विकल्प, विकल्प के स्थान पर है।

यहाँ तो यह बात सिद्ध करना है कि पहले ऐसी कल्पना (विकल्प) होती है; परन्तु फिर स्वरूप में स्थिर होने पर समकिती और मुनि को ह्न सबको ऐसी कल्पना (विकल्प) नहीं होती।[१]''

उक्त कथन का सार यह है कि आत्मखोजी अज्ञानी जीवों को और ज्ञानियों को भी, जब वे समाधिस्थ नहीं होते हैं, तब उन्हें भी स्व-पर-भेदविज्ञान संबंधी विकल्प खड़े होते हैं; किन्तु आत्मानुभूति के काल में, ध्यानस्थ अवस्था में भेदविज्ञान संबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते ॥४४॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन् सचेतने वा परमात्मतत्त्वे।
न रोषभावो न च रागभावो भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५॥

(हरिगीत)

जड़ देह में न द्वेष चेतन तत्त्व में भी राग ना।
शुद्धात्मसेवी यतिवरों की अवस्था निर्मोह हो॥४५॥

इस अचेतन पौद्गलिक शरीर में द्वेषभाव नहीं होता और सचेतन परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता ह्न ऐसी शुद्धदशा यतियों की होती है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २७२-२७३

''अहा ! जिसे आनन्दस्वरूप ज्ञानभाव अनुभव में आया हो और उसकी साधना में ही जो वर्तते हों, उनको यति कहा जाता है।

अत: जिनको मात्र आत्मस्वभाव-समभाव प्रगट हुआ है ह्न ऐसे यतियों को परमात्मा के प्रति भी राग नहीं होता और पुद्गल के प्रति द्वेष नहीं होता अर्थात् उनको तीन लोक के नाथ तीर्थंकर के प्रति राग और शरीरादि के प्रति द्वेष नहीं वर्तता।[१]''

इस कलश में यही कहा गया है कि शुद्धात्मसेवी मुनिवरों को किसी के भी प्रति राग-द्वेष नहीं होता; सर्वत्र समभाव ही वर्तता है॥४५॥●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २७३

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अंतर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं।

वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनंद पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है।

वह ज्ञानानन्द की दशा ऐसी होती है कि बाहर की अनन्त प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ उसे भग्न नहीं कर सकतीं। उन्हें उनकी खबर ही नहीं पड़ती। वे तो अपने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि लोक की कोई भी घटना उनके आनन्द सागर में भँवर पैदा नहीं कर सकती। उनका वह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है।

यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है, सिद्धों के आनन्द का अनंतवाँ भाग ही है; तथापि है उसी जाति का। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१६**

नियमसार गाथा ३०

विगत गाथाओं में पुद्गलद्रव्य का विस्तार से निरूपण करने के उपरान्त अब ३०वीं गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का स्वरूप संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं॥३०॥

(हरिगीत)

सब द्रव्य के अवगाह में नभ जीव पुद्गल द्रव्य के।
गमन थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त हैं॥३०॥

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन में निमित्त धर्मद्रव्य और गमनपूर्वक स्थिति का निमित्त अधर्मद्रव्य है तथा जीवादि सभी छह द्रव्यों को अवगाहन (रहने) में निमित्त आकाश द्रव्य है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य का संक्षिप्त कथन है।

यह धर्मास्तिकाय बावड़ी के पानी की भांति स्वयं गमनरूप क्रिया से रहित है। अ, इ, उ, ऋ, लृ ह्न इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना समय जिन्हें सिद्धशिला पर पहुँचने में लगता है; जो सिद्ध नाम के योग्य हैं; जो छह उपक्रमों से विमुक्त हैं अर्थात् जिनका संसारी जीवों के समान छह दिशाओं में गमन नहीं होता, मात्र ऊर्ध्वगमन ही होता है; जो मुक्तिरूपी सुन्दर नयनोंवाली सुलोचना के द्वारा देखे जाने योग्य हैं; जो तीन लोकरूपी पर्वत के शिखर हैं; जिन्होंने क्लेश के गृह एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तन रूप पंचविध संसार को दूर कर दिया है और जो पंचम गति की सीमा पर स्थित हैं अर्थात् मुक्तिरूप नगर के निकट हैं; ऐसे अयोगी जिनों को स्वभावगति क्रियारूप से परिणत होने में हेतु (निमित्त) धर्मद्रव्य है।

वह धर्मद्रव्य छह उपक्रम से युक्त अर्थात् छहों दिशाओं में गमन करनेवाले संसारियों की विभावगति क्रिया में भी हेतु (निमित्त) होता है।

इसप्रकार वह धर्मद्रव्य समस्त जीवों की गमनक्रिया में निमित्त होता है। जिसप्रकार पानी मछलियों के आवागमन में निमित्त होता है; उसी प्रकार धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गलों के आवागमन में निमित्त होता है।

वह अमूर्त धर्मद्रव्य आठप्रकार के स्पर्शों, पाँच-पाँच प्रकार के रसों व वर्णों और दो प्रकार की गंधों से रहित; अगुरुलघुत्वादि गुणों का आधारभूत, लोकाकाश के समान आकारवाला, अखण्ड, एक पदार्थ है।

'गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं' ह्न ऐसा आगम का वचन होने से गति के हेतुभूत इस धर्मद्रव्य के शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं।

अधर्मद्रव्य में विशेष बात यह है कि वह जीव और पुद्गलों को गमनपूर्वक स्थिति (ठहरने) में निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य में शेष बातें (गुण-पर्यायें) धर्मास्तिकाय के समान ही होती हैं।

इसीप्रकार आकाश का भी अवगाहदान लक्षण विशेष गुण है। आकाश की शेष विशेषताएँ धर्म-अधर्मद्रव्य जैसी ही हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि लोकाकाश के धर्म और अधर्म द्रव्य के समान प्रमाण (आकार) में होने से अलोकाकाश में कोई न्यूनता (कमी) नहीं आती, वह तो अनन्त ही है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''देखो, यहाँ बावड़ी के पानी का दृष्टान्त है; क्योंकि नदी का पानी तो हिलता है, गति करता है, लेकिन बावड़ी का पानी हिलता नहीं है; अपितु स्थिर रहता है। इसीप्रकार धर्मास्तिकाय भी एक अरूपी पदार्थ है और उसमें गति नहीं है, वह स्थिर है।

मात्र (अ, इ, उ, ऋ, लृ) पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितनी जिनकी स्थिति है ह्न ऐसे अयोगी (चौदहवें) गुणस्थान के अन्त में

सिद्धशिला में जाने की गति क्रिया में भी धर्मास्तिकाय ही निमित्त है ह्न ऐसा सिद्ध करते हैं।

सिद्ध परमात्मा छह अपक्रम से विमुक्त हैं। छह अपक्रम अर्थात् छह दिशाओं में जाना। संसारी जीव देह छूटने पर छहों दिशाओं में (चार दिशायें और ऊपर-नीचे इन छहों दिशाओं में) जाते हैं; परन्तु जब चौदहवें गुणस्थानवाले जीव यहाँ से मोक्ष में जाते हैं, तब उनकी गति इन छह दिशाओं में नहीं होती; अपितु उनका ऊर्ध्वगमन ही होता है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार तो मात्र यही है कि सभी द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने में आकाश द्रव्य निमित्त है और गमनक्रिया से युक्त समस्त जीवों और पुद्गलों की स्वभाव और विभावरूप गमन क्रियाओं में धर्म द्रव्य और गमनपूर्वक स्थिति (ठहरना) क्रियाओं में अधर्म द्रव्य निमित्त है।

जीव और पुद्गलों को छोड़कर शेष चार द्रव्यों में गमन क्रिया और गमनपूर्वक स्थिति क्रिया होती ही नहीं है, अत: उनमें धर्म और अधर्म द्रव्य की निमित्तता की आवश्यकता ही नहीं है।

सभी द्रव्यों में समानरूप से पाई जानेवाली शेष सभी विशेषतायें उक्त तीनों अमूर्तिक और अचेतन द्रव्यों में भी पाई जाती हैं।

टीका में जो जटिलता (समझने में कठिनाई) प्रतीत होती है; वह तो धर्मद्रव्य की परिभाषा स्पष्ट करते समय जो अयोगी जिनों के स्वरूप पर अनेक महिमावाचक विशेषणों के माध्यम से प्रकाश डाला गया है, उनकी महिमा बताई गई है; उसके कारण प्रतीत होती है।

टीकाकार मुनिराज के हृदय में सिद्धों के प्रति जो अगाध भक्ति है, वह जहाँ भी मौका मिलता है, प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

टीका में जिन स्वभावगति क्रिया और विभावगति क्रिया की चर्चा आई है; उनका स्वरूप इसप्रकार है ह्न

चौदहवें गुणस्थान के अन्त में जब जीव ऊर्ध्वगमनस्वभाव से

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २७६-२७७

लोकान्त में जाता है, तब **जो गमनक्रिया होती है, वह जीव की स्वभाव-गतिक्रिया है** और संसारावस्था में जब जीव कर्म के निमित्त से छहों दिशाओं में गमन करता है; उस समय होनेवाली **जीव की गमनक्रिया विभावगतिक्रिया है।**

इसीप्रकार एक-एक पृथक् परमाणु गति करता है, वह पुद्गल की स्वभावगतिक्रिया है और पुद्गलस्कन्ध गमन करता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) विभावगतिक्रिया है। इस स्वाभाविक तथा वैभाविक गतिक्रिया में धर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।

सिद्धदशा में जीव स्थित होता है, वह जीव की स्वाभाविक स्थिति क्रिया है और संसारदशा में स्थित होता है, वह जीव की वैभाविक स्थिति क्रिया है। अकेला परमाणु स्थित होता है, वह पुद्गल की स्वाभाविक स्थितिक्रिया है और स्कन्ध स्थित होता है, वह पुद्गल की (स्कन्ध के प्रत्येक परमाणु की) वैभाविक स्थितिक्रिया है।

इन जीव-पुद्गलों की स्वाभाविक तथा वैभाविक स्थितिक्रिया में अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है।।३०।।

उक्त गाथा की टीका के उपरान्त टीकाकार एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इह गमननिमित्तं यत्स्थिते: कारणं वा
पदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम्।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोक: ।।४६ ।।

(दोहा)

धर्माधर्माकाश को द्रव्यरूप से जान।
भव्य सदा निज में बसो ये ही काम महान।।४६।।

जो जीव और पुद्गलों के गमन में निमित्त है, स्थिति में कारण है ह्न ऐसे धर्म और अधर्म द्रव्यों को तथा जो सभी द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण हैं ह्न ऐसे आकाशद्रव्य को द्रव्यरूप से भलीभांति जानकर **हे भव्यजीवो ! निजतत्त्वरूप भगवान आत्मा में प्रवेश करो, निज को निजरूप जानकर-मानकर, निज का ही ध्यान धरो; निज में ही जम जावो, रम जावो, समा जावो।।४६।।** ●

नियमसार गाथा ३१

विगत गाथा में किये गये धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य के निरूपण के उपरान्त अब इस गाथा में कालद्रव्य की चर्चा आरंभ करते हुए सर्वप्रथम व्यवहारकाल की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणमप्पाणं ।।३१ ।।

(हरिगीत)

समय आवलि भेद दो भूतादि तीन विकल्प हैं।
संस्थान से संख्यातगुण आवलि अतीत बखानिये।।३१।।

समय और आवलि के भेद से कालद्रव्य दो प्रकार का है और भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल के भेद से तीन प्रकार का है। अतीतकाल, संस्थानों (शरीरों) के और संख्यात आवलि के गुणाकार प्रमाण है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारकाल के स्वरूप और उसके विविध भेदों का कथन है।

एक आकाश के प्रदेश में जो परमाणु स्थित हो; उस परमाणु का दूसरे परमाणु के द्वारा मंदगति से उल्लंघन किये जाने में जितना काल लगता है, उतने काल को समय कहते हैं, समय रूप व्यवहारकाल कहते हैं।

ऐसे असंख्य समयों का एक **निमिष** होता है अथवा आँख मीचने में जितना समय लगता है, उतना समय **निमिष** है। आठ निमिष की एक **काष्ठा** होती है। सोलह काष्ठा की कला, बत्तीस कला की **घड़ी,** साठ घड़ी का **दिन-रात,** तीस दिन-रात का **मास,** दो मास की **ऋतु,** तीन ऋतु का **अयन** और दो अयन का **वर्ष** होता है।

आवलि आदि व्यवहार का ऐसा क्रम है।

इसप्रकार व्यवहार काल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है।

अब यहाँ अतीत काल को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। भूतकाल में हुये सिद्धों की सिद्धपर्याय के प्रादुर्भाव होने से पहिले बीती हुई अनंत आवलि आदि व्यवहार काल और संसार दशा में बीते हुए अनंत संस्थानों (शरीरों) के बराबर अतीत काल अनंत है। इसीप्रकार अनागत (भविष्य) काल भी अनागत सिद्धों के मुक्त होने तक होनेवाले अनंत शरीरों के समान अनंत है। गाथा का ऐसा अर्थ है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सिद्ध भगवान के पूर्व में अनंत शरीर बीत गए, उन शरीरों से संख्यातगुणी आवलि भी बीत गई; इसप्रकार अतीत शरीर भी अनंत हैं और अतीत काल भी अनंत है। अतीत शरीर से अतीत आवलि संख्यातगुणी होने पर भी दोनों अनंत होने से दोनों को अनंतपने की अपेक्षा एक जैसा कहा है।[१]

भविष्य का अंत नहीं है, परन्तु उतने काल का ज्ञान, ज्ञान में आ जाता है। अनंत काल बीते और अनंत काल बीतेंगे, वे ज्ञान में आ जाते हैं। **तीन काल का ज्ञान तीन काल में निश्चित नहीं होता, किन्तु अल्पज्ञानवाला भी तीन काल के ज्ञान को निश्चित करता है। तीन काल को निश्चित करने के लिए, तीन काल का ज्ञान हो तो ही हो ह्न ऐसा हो तो तीन काल कभी निश्चित ही नहीं हो सकते; किन्तु अल्पज्ञान में यह निश्चित होता है कि आत्मा का स्वभाव तीन काल में जानने योग्य है और इसका निर्णय करनेवाली पर्याय पर्यायवान आत्मा से होती है।**

यह अजीव अधिकार चल रहा है, इसमें काल द्रव्य की सिद्धि कर रहे हैं। कालद्रव्य को सर्वज्ञों ने देखा है, मुनियों ने कहा है और

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २८५

शास्त्रों में युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है ह्न ऐसे व्यवहारकाल की बात करते हैं।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि पुद्गल का एक अविभागी परमाणु को अत्यन्त मंदगति से चलकर आकाश के एक प्रदेश से चलकर उसी से सटे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुँचने में कम से कम जितना काल लगता है, काल के उस अविभागी अंश को समय कहते हैं।

ऐसे असंख्य समयों का एक निमिष, आठ निमिष का एक काष्ठा, सोलह काष्ठा की एक कला, बत्तीस कला की एक घड़ी, साठ घड़ी का दिन-रात, तीस दिन-रात का एक माह, दो माह की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है।

यह व्यवहारकाल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का और भूत, भविष्य और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का होता है।

काल के ये सब भेद-प्रभेद व्यवहारकाल हैं और कालाणु द्रव्य निश्चयकाल है।

भूतकाल अनंत है, भविष्य काल उससे भी अनंतगुणा है और वास्तविक वर्तमानकाल एक समय का होता है तथा उसके निमिष आदि भेद भी हैं।।३१।।

'तथा चोक्तं पंचास्तिकाये ह्न तथा पंचास्तिकाय में कहा है' ह्न ऐसा कह कर एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।।१४।।[२]

(हरिगीत)

समय-निमिष-कला-घड़ी दिनरात-मास-ऋतु-अयन।
वर्षादि का व्यवहार जो वह पराश्रित जिनवर कहा।।१४।।

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ह्न इसप्रकार पराश्रित काल है, जिसमें पर की अपेक्षा आती है ह्न ऐसा व्यवहार काल है।''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २८५-२८६ २. पंचास्तिकाय : गाथा २५

इस गाथा में भी वही बात कही गई है, जो ३१वीं गाथा में कही गई है।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः।
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद्
निजनिरूपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय।।४७।।

(दोहा)

समय निमिष काष्ठा कला घड़ी आदि के भेद।
इनसे उपजे काल यह रंच नहीं सन्देह॥
पर इससे क्या लाभ है शुद्ध निरंजन एक।
अनुपम अद्भुत आतमा में ही रहूँ हमेश॥४७॥

समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, दिन-रात आदि भेदों से यह व्यवहारकाल उत्पन्न होता है; परन्तु शुद्ध एक निज निरूपम आत्मतत्त्व को छोड़कर उक्त काल से मुझे क्या लाभ है, कुछ भी लाभ (फल) नहीं।

इस कलश का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा के ज्ञान बिना जीव अज्ञान के कारण अनादिकाल से रखड़ रहा है। मैं चिदानन्द हूँ, देव-शास्त्र-गुरु पर हैं, पर के साथ मेरे कोई संबंध नहीं ह्न यही वास्तव में प्रयोजनभूत है।[१]

यहाँ काल की व्याख्या चल रही है, उसमें यह बात कह रहे हैं कि काल से मेरा क्या प्रयोजन है? बीते काल में ये संयोग नहीं थे, भविष्यकाल में भी ये नहीं रहेंगे और बीते काल के संयोग वर्तमान में भी नहीं है; क्योंकि संयोग तो पराधीन हैं। **आत्मा अनादि अनंत है। वह तीनों काल पर से रहित है। आत्मा तो एक है; जो आत्मा से भिन्न हो, वह आत्मा का नहीं है।** पूर्वभव में भगवान मिले हों तो वे अब नहीं रहे;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २८७

अतः वे भगवान भी तेरे नहीं हैं। संयोगी कोई वस्तु तुम्हारी नहीं। पुण्य-पाप के भाव भी छूटनेवाले हैं; अतः वे भी तुम्हारे नहीं है। **आत्मा तो त्रिकालीध्रुव चिदानन्द है, इसमें श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करना धर्म है।**

आत्मा जन्म-मरण नहीं करता। सूर्य व चन्द्र का जिसप्रकार नाश नहीं होता, उसीप्रकार आत्मा का भी नाश नहीं होता। सूर्य और चन्द्र उदय और अस्त होते हैं, यह बात तो एक अपेक्षा से है। जब वे दिखाई देते हैं तो उदय और दिखाई नहीं देते तब अस्त हैं ह्न ऐसा कहते।[१]

अनंतकाल व्यतीत हो गया, किन्तु इनके प्रवाह में मेरा कभी नाश नहीं हुआ ह्न ऐसा धर्मी मानता है। मेरा त्रिकाली स्वरूप तो पवित्र और निरुपम है, इसे छोड़कर कालद्रव्य के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। आत्मा का स्वरूप समझकर अनंतकाल में अनंतजीव मुक्ति गये हैं।[२]

काललब्धि तो स्वपुरुषार्थ की प्राप्ति को कहते हैं। आत्मा स्व का भान करें, उसे स्वकाललब्धि कहते हैं। आत्मा को जाने बिना कितने काल में मुक्ति होगी ? ह्न यह प्रश्न ही नहीं उठता।[३]

यह आत्मा अनादि से काललब्धि के आश्रय से पर्याय में मंदी का व्यापार कर रहा है; किन्तु उससे आत्मा को लाभ नहीं होता। आत्मा तो निरुपम तत्त्व है, उसे काल से कोई फल नहीं ह्न ऐसा माने तो इस मान्यता के फल में मुक्ति की प्राप्ति होती है।[४]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि मूल गाथा में समागत वस्तु का स्वरूप स्पष्ट करते समय भी टीकाकार का मन उक्त विषयवस्तु में रमता नहीं है; उनकी धुन तो एकमात्र आत्मा में ही लगी रहती है, जो लगभग प्रत्येक गाथा की टीका के अन्त में आनेवाले छन्दों में सहज ही प्रगट हो जाती है।

मूल ग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो परमाध्यात्मिक संत थे ही; परन्तु टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव तो उनसे भी एक कदम आगे बढते दिखाई देते हैं।।४७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २८८
२. वही, पृष्ठ २८९
३. वही, पृष्ठ २८९
४. वही, पृष्ठ २८९

नियमसार गाथा ३२

विगत गाथा में व्यवहारकाल का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में निश्चय काल की बात करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जीवादु पोग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो।।३२।।

(हरिगीत)

जीव एवं पुद्गलों से समय नंत गुणे कहे।
कालाणु लोकाकाश थित परमार्थ काल कहे गये।।३२।।

जीव और पुद्गल द्रव्यों से समय अनंत गुणे हैं और जो लोकाकाश में कालाणु हैं, वे परमार्थ (निश्चय) काल हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

'' यह मुख्य काल (निश्चय काल) के स्वरूप का व्याख्यान है। वे समय जीवराशि और पुद्गलराशि से अनंत गुणे हैं।

कालाणु लोकाकाश के प्रदेशों में अलग-अलग स्थित हैं, वे कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल हैं।।३२।।''

यही बात प्रवचनसार में कही गई है ह्न

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।।१५।।[1]

(हरिगीत)

पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह।।१५।।

काल तो अप्रदेशी है और प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाशद्रव्य के एक प्रदेश को मंदगति से उल्लघंन कर रहा हो, तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

इस गाथा में 'समय' शब्द से मुख्य कालाणु का स्वरूप कहा है।।१५।।

१. प्रवचनसार, गाथा १३८

अन्यत्र (द्रव्यसंग्रह में) भी कहा है ह्न

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि।।१६।।[1]

(हरिगीत)

जान लो इस लोक के जो एक-एक प्रदेश पर।
रत्नराशिवत् जड़े वे असंख्य कालाणु दरव।।१६।।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान खचित हैं। वे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।।१६।।

और मार्गप्रकाश नामक ग्रंथ में भी कहा है ह्न

(अनुष्टुप्)

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात्।
न द्रव्यं नापि पर्याय:सर्वाभाव: प्रसज्यते।।१७।।[2]

(दोहा)

सब द्रव्यों में परिणमन काल बिना न होय।
और परिणमन के बिना कोई वस्तु न होय।।१७।।

काल के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं होगा और परिणमन के न होने पर द्रव्य और पर्यायें भी नहीं रहेगी ह्न इसप्रकार सर्वाभाव का प्रसंग उपस्थित होगा।।१७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज कलश के रूप में दो छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं ह्न

(अनुष्टुप्)

वर्तनाहेतुरेष: स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।।४८।।
प्रतीतिगोचरा: सर्वे जीवपुद्गलराशय:।
धर्माधर्मनभ: काला: सिद्धा: सिद्धान्तपद्धते:।।४९।।

(दोहा)

घट बनने में निमित्त है ज्यों कुम्हार का चक्र।
द्रव्यों के परिणमन में त्यों निमित्त यह द्रव्य।।

१. द्रव्यसंग्रह : गाथा २२ २. मार्गप्रकाश : कलश ४७

इसके बिन न कोई भी द्रव्य परिणमित होय।
इसकारण ही सिद्ध रे इसकी सत्ता होय।।४८।।
जिन आगम आधार से धर्माधर्माकाश।
जिय पुद्गल अर काल का होता है आभास।।४९।।

जिसप्रकार घड़ा बनाने में कुम्हार का चक्र निमित्त है; उसीप्रकार यह परमार्थ काल पाँचों अस्तिकायों की वर्तना में निमित्त है। इसके बिना पाँचों अस्तिकायों में वर्तना नहीं हो सकती।

सिद्धान्तपद्धति अर्थात् आगमानुसार स्थापित जीवराशि, पुद्गल-राशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्यों का अस्तित्व प्रतीतिगोचर है अर्थात् प्रतीति में आता है।।४९।।

उक्त गाथा, टीका और टीका में समागत छन्दों के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''एक जीव, उसके अनंत गुण और उसके एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं और जितनी पर्यायें हैं, उतने समय हैं; अतः जीव-पुद्गल से अनंतगुणा समय है। **भूत-भविष्य के समयों का आँकड़ा पूछें तो समय अनंत है ह्न ऐसा जिसने निश्चित किया उसका लक्ष्य वर्तमान से हटकर त्रिकाली पर जमता है। एक त्रिकाली द्रव्य में से अनंत पर्यायें आती हैं। वहाँ द्रव्य की प्रतीति होने पर द्रव्य में राग नहीं ह्न ऐसा ज्ञान होता है और फिर राग का अभाव अवश्य होता ही है।**[१]

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु है। जितने लोक के प्रदेश हैं, उतने कालाणु हैं, वही वास्तव में कालद्रव्य है।[२]''

विविध शास्त्रों के उक्त सभी कथनों में यही बताया गया है कि कालाणु निश्चयकाल द्रव्य है। वे कालाणु द्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक स्थित हैं; इसप्रकार कुल कालद्रव्य जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही हैं। तात्पर्य यह है कि **कालद्रव्यों की संख्या असंख्य (लोकप्रमाण) है। समय कालद्रव्य की पर्यायें हैं। वे समय जीव राशि व पुद्गल राशि से भी अनन्तगुणे अनंत हैं। समय काल का वह सबसे छोटा अंश है कि जिसका विभाजन संभव नहीं है।।३२।।** ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ २९०-२९१ २. वही, पृष्ठ २९१

नियमसार गाथा ३३

विगत गाथाओं में कालद्रव्य की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में उक्त चर्चा का उपसंहार करते हुए यह बताते हैं कि अचेतन अमूर्तिक धर्मादि चार द्रव्यों की मात्र स्वभावपर्यायें ही होती हैं, विभाव-पर्यायें नहीं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति।।३३।।

(हरिगीत)

जीवादि के परिणमन में यह काल द्रव्य निमित्त है।
धर्म आदि चार की निजभाव गुण पर्याय है।।३३।।

जीवादि सभी द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य निमित्त है और धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार द्रव्यों में स्वभावरूप पर्यायें ही होती हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कालादि अमूर्त, अचेतन और शुद्ध द्रव्यों की निजस्वभाव गुणपर्यायों का कथन है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशरूप पंचास्तिकाय द्रव्यों की पर्यायरूप परिणति का हेतु (निमित्त) होने से मुख्य (निश्चय) कालद्रव्य का लक्षण वर्तनाहेतुत्व है ह्न ऐसा यहाँ कहा गया है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार द्रव्यों को स्वजातीय या विजातीय बंध का संबंध न होने से इनकी विभावपर्यायें नहीं होती हैं; परन्तु स्वभावगुणपर्यायें होती हैं ह्न ऐसा अर्थ है।

उक्त स्वभावगुणपर्यायों का पूर्व में प्रतिपादन हो चुका है; अतः यहाँ संक्षेप में सूचित किया गया है।''

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि धर्म, अधर्म, आकाश

और काल ह्न इन द्रव्यों की स्वभावपर्यायें होती हैं; विभावपर्यायें नहीं होतीं; क्योंकि इनमें न तो स्वजातीय बंध होता है और न विजातीय। पंचास्तिकाय में द्रव्यों में जो भी स्वभाव-विभावपर्यायरूप परिणमन होता है, उसमें कालद्रव्य निमित्त होता है।।३३।।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत्।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं।
भवति भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ।।५०।।

(त्रिभंगी)

जय भव भय भंजन, मुनि मन रंजन, भव्यजनों को हितकारी।
यह षट्द्रव्यों का, विशद विवेचन, सबको हो मंगलकारी।।५०।।

भव्यजीवों को अमृत के समान और मुनिराजों के चित्त को प्रमुदित करनेवाला यह छह द्रव्यों का अत्यन्त रमणीय स्पष्ट विवेचन भव्यजीवों को सदा संसार परिभ्रमण से मुक्त होने का कारण बने।

यह छन्द आशीर्वचनरूप छन्द है। इसमें भावना व्यक्त की गई है कि **भव्यजीवों के लिए अमृत समान और मुनिराजों के चित्त को प्रमुदित करनेवाला षट्द्रव्यों का यह अत्यन्त रमणीक विवेचन भव्यजीवों को संसार परिभ्रमण से मुक्त होने का कारण बने, सभी को कल्याणकारी हो।।५०।।** ●

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों के चित्त को वर्तमान आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ विचलित नहीं कर पाती हैं। लौकिक घटनायें उन्हें आंदोलित नहीं करतीं, वे मात्र उन्हें जानते हैं, वे उनके ज्ञान का मात्र ज्ञेय बनकर रह जाती हैं। भूमिकानुसार कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जावें तो वे उसे भी ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७-१८**

नियमसार गाथा ३४

विगत गाथाओं में षट्द्रव्यों की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहे गये हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं।।३४।।

(हरिगीत)

बहुप्रदेशीपना ही है काय एवं काल बिन।
जीवादि अस्तिकाय हैं ह्न इस भांति जिनवर के वचन।।३४।।

जैनागम के अनुसार इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। बहुप्रदेशीपने को काय कहते हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इस गाथा में यह कहा गया है कि कालद्रव्य को छोड़कर पूर्वोक्त शेष पाँच द्रव्य ही पंचास्तिकाय हैं।

कालद्रव्य द्वितीयादि प्रदेशों से रहित है; क्योंकि शास्त्र का ऐसा वचन है कि **समओ अप्पदेसो ह्न** काल अप्रदेशी है। **काल को अकेला द्रव्यत्व ही है, शेष द्रव्यों को द्रव्यत्व के साथ-साथ कायत्व भी है। बहुप्रदेशीपने को काय कहते हैं। जिसप्रकार काय (शरीर) बहुप्रदेशी है; उसीप्रकार अस्तिकाय द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। अस्तिकाय पाँच हैं।**

अस्तित्व का नाम ही सत्ता है। सत्ता की क्या विशेषता है ?

वह सत्ता प्रतिपक्ष सहित है। अवान्तर सत्ता और महासत्ता के भेद से सत्ता दो प्रकार की है।

दोनों सत्ताओं में रहनेवाला प्रतिपक्षपना इसप्रकार है ह्न

१. महासत्ता समस्त वस्तुविस्तार में व्यापनेवाली है और अवान्तरसत्ता प्रतिनियत वस्तु में व्यापनेवाली है।

२. महासत्ता समस्त पदार्थों में व्यापकरूप से व्याप्त होनेवाली है और अवान्तरसत्ता प्रतिनियत एकरूप से व्याप्त होनेवाली है।

३. महासत्ता अनन्तपर्यायों में व्याप्त होनेवाली है और अवान्तरसत्ता प्रतिनियत एक पर्याय में व्याप्त होनेवाली है।

पदार्थों की अस्ति है ह्न ऐसा भाव ही अस्तित्व है। उक्त अस्तित्व और कायत्व से सहित पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''महासत्ता वीतरागता को स्पष्ट करती है। एक पदार्थ अन्य के कारण हो तो महासत्ता नहीं रहती। आत्मा है, पर्याय में राग भी है, निमित्त है, गुण भी हैं, परपदार्थ भी हैं; ये सब हैं; पर किसी अन्य कारण से नहीं हैं। सबका अस्तित्व है ह्न ऐसा निश्चित करने पर धर्म होता है; क्योंकि महासत्ता का ज्ञान होने पर साधकपना होता है।[१]

सिद्ध हो अथवा निगोद, एक परमाणु हो अथवा महास्कन्ध ह्न ये सब 'है' में आ जाता है। कोई विकारवाला हो अथवा अविकार वाला हो तो वह स्वयं के होने के कारण है अर्थात् जहाँ पराधीनता उड़ गई और स्वतंत्रता आ गई, वहीं सम्यग्दर्शनरूप प्रथम धर्म हुआ; क्योंकि **महासत्ता को स्वीकारते ही वीतरागदृष्टि हो गई है।**[२]

सर्व में व्यापनेवाली महासत्ता है और महासत्ता को जाननेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्ग है।

प्रतिनियत वस्तु में व्यापनेवाली अवांतरसत्ता है। आत्मा है, पुद्गल है, छोटा परमाणु है, स्कन्ध है ह्न ये अवान्तर सत्ता है। **आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद करें तो वह भी एक दूसरे के कारण नहीं है; अतः अवान्तरसत्ता में भी वीतरागता ही है।** महासत्ता लें चाहें अवान्तरसत्ता लें, परन्तु वे किसी के कारण से हैं ह्न ऐसा नहीं। पर के कारण मानें तो अवान्तरसत्ता व महासत्ता नहीं रहती।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०० २. वही, पृष्ठ ३०० ३. वही, पृष्ठ ३००

इन छह द्रव्यों में अस्तित्व और कायत्वरूप सहित पाँच अस्तिकाय हैं। कालद्रव्य को अस्तित्व है, कायत्व नहीं; क्योंकि काय के हेतु बहुप्रदेशीपने का उसमें अभाव है। **जगत में जो वस्तु है, उसकी व्याख्या होती है। जो नहीं है, उसकी व्याख्या नहीं होती। वस्तु है तो उसके गुणपर्याय भी हैं। अस्तिपने में छह द्रव्य और कायत्व में पाँच द्रव्य आते हैं।** जिसप्रकार शरीर अधिक रजकणों का पिण्ड है; अतः वह काय है, उसमें बहुत से प्रदेशों का सद्भाव है। काल में प्रदेशों का अभाव है; क्योंकि वह एकप्रदेशी है।[१]''

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि बहुप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं और कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं; किन्तु टीका में अस्ति का अर्थ करते हुए महासत्ता और अवान्तरसत्ता की न केवल चर्चा की गई है; अपितु उन दोनों में विद्यमान अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

प्रश्न ह्न यहाँ एक ही पंक्ति में दो बातें एक साथ कही जा रही हैं कि कालद्रव्य अप्रदेशी है और एकप्रदेशी है। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कालद्रव्यों के प्रदेश हैं ही नहीं या उसका एकप्रदेश है?

उत्तर ह्न एकप्रदेशी और अप्रदेशी का एक ही अर्थ है। असंख्यात कालद्रव्यों में से प्रत्येक कालद्रव्य का मात्र एक प्रदेश ही होता है।

प्रश्न ह्न यदि एक कालद्रव्य का एक ही प्रदेश होता है तो उसे अप्रदेशी क्यों कहते हैं?

उत्तर ह्न एक से अधिक प्रदेश नहीं है, अनेक प्रदेश नहीं है; यह बतलाने के लिए ही उसे अप्रदेशी कहते हैं।

अप्रदेशी में जो 'अ' है, वह अनेकप्रदेशत्व के निषेध के लिए है, एक प्रदेश के निषेध के लिए नहीं।

इसप्रकार यहाँ एक प्रदेशी और अप्रदेशी ह्न दोनों का एक ही अर्थ है कि कालाणु एक प्रदेशी है, अनेक प्रदेशी नहीं।।३४।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०१

टीका के उपरान्त टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभि: प्रीत्या।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम्।।५१।।

(हरिगीत)

आगम उदधि से सूरि ने जिनमार्ग की षट्द्रव्यमय।
यह रत्नमाला भव्यकण्ठाभरण गूँथी प्रीति से।।५१।।

इसप्रकार जिनमार्गरूपी रत्नाकर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक छह द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यजीवों के कण्ठ के आभूषण के रूप में प्रस्तुत की है।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''वीतरागी मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं छह द्रव्यों का वर्णन नहीं है। वीतरागी जिनमार्गरूपी दरिया में से छह द्रव्यरूप रत्नों की माला भव्यजीवों के कण्ठाभरण के लिए संत मुनिराज बना रहे हैं।[१] अभव्यों के लिए यह छह द्रव्यरूप रत्नों की माला आभरण नहीं है।[२]''

छह द्रव्यों का वर्णन करनेवाली गाथायें रत्न हैं और उन रत्नों को व्यवस्थित रूप में गूँथकर यह रत्नमाला आचार्यदेव ने बनाई है। जो इसे कण्ठ में धारण करेगा, इन गाथाओं को कण्ठस्थ (याद) करेगा; यह गाथाओंरूपी रत्नों की माला उसके कण्ड का आभरण (आभूषण-गहना) बनेगी। इन गाथाओं में प्रस्तुत तत्त्वज्ञान उन भव्यों के कल्याण का कारण बनेगा।

यह छन्द मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा दिया आशीर्वाद तो है ही, साथ में मार्गदर्शन भी है तथा गाथायें भाव सहित कण्ठस्थ करने की प्रेरणा देनेवाला भी है।।५१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०२
२. वही, पृष्ठ ३०२

नियमसार गाथा ३५-३६

विगत गाथाओं में षट्द्रव्य और पंच अस्तिकायों की चर्चा करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में उक्त षट् द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या बताते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु।।३५।।
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा।।३६।।

(हरिगीत)

होते अनंत असंख्य संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्य के।
होते असंख्य प्रदेश धर्माधर्म चेतन द्रव्य के।।३५।।
असंख्य लोकाकाश के एवं अनन्त अलोक के।
फिर भी अकायी काल का तो मात्र एक प्रदेश है।।३६।।

मूर्त पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं।

एक जीव, धर्म और अधर्म के समान लोकाकाश के भी असंख्य प्रदेश होते हैं तथा अलोकाकाश के अनंत प्रदेश होते हैं। कालद्रव्य के एकप्रदेशी होने से कायपना नहीं है।

इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ छह द्रव्यों के प्रदेशों का लक्षण और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं ह्न यह बताते हैं।

शुद्ध पुद्गलपरमाणु द्वारा गृहीत नभस्थल ही प्रदेश है। तात्पर्य यह है कि **पुद्गल द्रव्य का एक परमाणु आकाश के जितने स्थल को रोकता (घेरता) है, उतने स्थल को प्रदेश करते हैं।**

पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं।

लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। शेष जो अलोकाकाश है, उसके अनन्त प्रदेश हैं।

कालद्रव्य का एक प्रदेश है, इसकारण उसके कायत्व नहीं है; पर द्रव्यत्व तो है ही।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आकाश द्रव्य में भी प्रमेयत्व नाम का गुण त्रिकाल विद्यमान है। प्रमेयत्व गुण के कारण अनन्त आकाश भी ज्ञान का ज्ञेय बनता है।

प्रत्येक द्रव्य में छह सामान्य गुण होते हैं, उनमें एक प्रमेयत्व नाम का गुण भी है, जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य बनता है।[१]

आकाश द्रव्य में प्रमेयत्व नाम का गुण त्रिकाल व्यापक है; अतः वह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का भी विषय बनता है। ऐसा निश्चय करके सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए। अतः छहों द्रव्य मति-श्रुतज्ञान में परोक्ष और केवलज्ञान में प्रत्यक्ष जानने में आते हैं ह्न ऐसा निश्चित हुआ।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि यद्यपि पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी ही है; तथापि स्कंध की अपेक्षा पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश माने गये हैं।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य ह्न इन सबमें प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं और लोकाकाश के भी धर्म, अधर्म और एक जीव के बराबर असंख्य प्रदेश ही हैं। अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं; परन्तु कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है। यही कारण है कि उसे अस्तिकायों में शामिल नहीं किया गया है।।३५-३६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०४
२. वही, पृष्ठ ३०४

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः कृतं मया कंठविभूषणार्थम्।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम्।।५२।।

(हरिगीत)

मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढाने के लिए।
षट् द्रव्यरूपी रत्नों का मैंने बनाया आभरण।।
अरे इससे जानकर व्यवहारपथ को विज्ञजन।
परमार्थ को भी जानते हैं जान लो हे भव्यजन।।५२।।

पदार्थरूपी रत्नों का आभरण (आभूषण-गहना) मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढाने के लिए मैंने बनाया है। इसके द्वारा विज्ञजन व्यवहारमार्ग को जानकर शुद्धमार्ग को जानते हैं।

उक्त छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैंने यह पदार्थों के स्वरूप को बतानेवाला रत्नमयी कण्ठाभरण (हार-माला) मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढाने के लिए बनाया है।

जो मुमुक्षु भाई इसे कण्ठ में धारण करेंगे, कण्ठस्थ करेंगे, भाव समझ कर कण्ठस्थ याद कर लेंगे; वे मुमुक्षु व्यवहार एवं निश्चय मार्ग को समझ कर, उस पर चलकर अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करेंगे।।५२।। ●

उनका चित्त चन्दन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमें दीनता नहीं रहती, वे विषय के भिखारी नहीं होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने से सच्चे लक्षपति (लखपति) होते हैं। साथ ही उनके हृदय में पूर्ण आत्मस्वभाव को प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ वीतरागियों के प्रति अनंत भक्ति का भाव रहता है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७-१८**

नियमसार गाथा ३७

यह गाथा अजीवाधिकार के उपसंहार की गाथा है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पोग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा।।३७।।

(हरिगीत)

एक पुद्गल मूर्त द्रव्य अमूर्तिक हैं शेष सब।
एक चेतन जीव है पर हैं अचेतन शेष सब।।३७।।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीव चेतन है और शेष द्रव्य चैतन्यगुण से रहित हैं, अचेतन हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''उक्त मूल पदार्थों में पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष पाँच प्रकार के द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीव चेतन है और शेष पाँच प्रकार के द्रव्य अचेतन हैं। स्वजातीय और विजातीय बंध की अपेक्षा से जीव और पुद्गलों को बंधदशा में अशुद्धता है; शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन चार प्रकार के द्रव्यों में विशेष गुण की अपेक्षा शुद्धपना है।''

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''परमाणु-परमाणु का मिलान होना यह सजातीय पुद्गल का अशुद्धपना है और जीव तथा पुद्गल का मिलान होना विजातीय अशुद्धपना है।[१]

आत्मा का आत्मा के साथ मिलान नहीं होता; अत: उसमें सजातीय अशुद्धपना नहीं होता, किन्तु जीव और पुद्गल का मिलान होने पर विजातीय अशुद्धपना जीव को होता है।[२]

इसप्रकार जीव और पुद्गल को बंध अवस्था में अशुद्धपना होता

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०८ २. वही, पृष्ठ ३०८

है; धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों को अशुद्धपना नहीं होता। **छह द्रव्यों के सामान्य गुणों में तो शुद्धता ही रहती है, किन्तु विशेष गुणों में अशुद्धता होती है। विशेष गुणों की अशुद्धता भी जीव और पुद्गल को ही होती है, किन्तु धर्मादि चार पदार्थों के विशेष गुण में भी अशुद्धता नहीं होती। वे सदा शुद्ध ही रहते हैं।**[१]

आत्मा स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है और उसके सामान्य गुण भी शुद्ध ही है। विशेष गुणों की पर्याय में अशुद्धता होती है। **आत्मा चिदानन्द है ह्न ऐसा अवलम्बन लेवें तो अशुद्धता उत्पन्न ही नहीं होती ह्न इसे ही अशुद्धता नष्ट हुई ह्न ऐसा कहा जाता है।**[२]''

उक्त गाथा और उसकी टीका में मात्र यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य मूर्तिक हैं, शेष सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं। इसीप्रकार जीवद्रव्य चेतन हैं और जीव को छोड़कर शेष द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल परमाणु दूसरे परमाणुओं से मिलकर स्कंधरूप परिणमता है ह्न यह उसकी सजातीय अशुद्ध अवस्था है और जब वह पुद्गल द्रव्य जीव के साथ बंधता है तो वह उसकी विजातीय अशुद्ध अवस्था है।

जीव दूसरे जीवों से तो बंधता ही नहीं है; अत: उसमें सजातीय अशुद्धता नहीं होती; किन्तु पुद्गल के साथ बंधने के कारण जीव में विजातीय अशुद्धता पाई जाती है। शेष चार द्रव्य कभी किसी से बंधते नहीं; अत: उनमें अशुद्धता होती ही नहीं है।।३७।।

इसके बाद अधिकार के अंत में टीकाकार मुनिराज एक मंगल-आशीर्वादात्मक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य।
सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत्।।५३।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३०८ २. वही, पृष्ठ ३०९

(हरिगीत)

जिस भव्य के मुख कमल में ये ललितपद वसते सदा।
उस तीक्ष्णबुद्धि पुरुष को शुद्धातमा की प्राप्ति हो।।
चित्त में उस पुरुष के शुद्धातमा नित ही वसे।
इस बात में आश्चर्य क्या यह तो सहज परिणमन है।।५३।।

जिस भव्योत्तम के मुखकमल में सदा इसप्रकार के ललितपदों की पंक्ति शोभायमान होती है; उस तीक्ष्णबुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र ही शुद्धात्मारूप समयसार शोभायमान होता है, इसमें क्या आश्चर्य है ?

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जीव अजीव का कुछ नहीं कर सकता ह्न ऐसा जिनके ज्ञान में निर्णय है, उसे अजीव पदार्थ का यथार्थ ज्ञान है।[१]

मैं जीव हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ; पर अजीव है; मुझमें और उसमें कोई संबंध नहीं है ह्न ऐसा जिसको ज्ञान है ह्न उन भव्यों के मुख में यह वाणी शोभा देती है।

मुझ में और पर में कोई संबंध नहीं है, विकल्प के साथ भी मेरा कोई संबंध नहीं है। आत्मा के निज स्वभाव में जो बारंबार रमण करता है, वह चैतन्य आत्मा परमात्मा हो जाता है।[२]''

अजीवाधिकार के इस अन्तिम छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो भव्यजीव उक्त कथनों के मर्म को जानता है; वह तीक्ष्णबुद्धिवाला भव्योत्तम पुरुष समयसाररूप निज भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।।५३।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अजीव अधिकार नामक दूसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** •

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३१० २. वही, पृष्ठ ३१०

शुद्धभावाधिकार

(गाथा ३८ से गाथा ५५ तक)

नियमसार गाथा ३८

जीवाधिकार और अजीवाधिकार के निरूपण के उपरान्त अब यहाँ शुद्धभावाधिकार आरंभ करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

जीवादिबहित्तत्त्वं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।३८।।

(हरिगीत)

जीवादि जो बहितत्त्व हैं, वे हेय हैं कर्मोपधिज।
पर्याय से निरपेक्ष आतमराम ही आदेय है।।३८।।

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मोपाधिजनित गुण और पर्यायों से भिन्न अपना आत्मा उपादेय है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह हेय और उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है। परद्रव्यरूप होने से जीवादि सात तत्त्वों का समूह वस्तुत: उपादेय नहीं है।

सहज वैराग्यरूपी महल का शिखामणि (चूड़ामणि), परद्रव्यों से पराङ्मुख, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देह को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित, परमजिनयोगीश्वर और स्वद्रव्य में तीक्ष्णबुद्धि के धारक आत्मा (मुनिराजों) को वास्तव में एक अपना आत्मा ही उपादेय है।

पारिणामिक भावों से भिन्न औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ह्न इन चार भावों से अगोचर होने से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधिजनित विभावगुणपर्यायों से रहित, अनादि-अनन्त अमूर्त और अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध सहज परमपारिणामिक भाव है स्वभाव जिसका, ऐसा कारणपरमात्मा ही वास्तविक आत्मा है।

अत्यासन्न भव्यजीवों को उक्त निज परमात्मा (आत्मा) से अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जीवादि सात तत्त्वों का राग सहित विचार परद्रव्य है; क्योंकि राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता है, अत: सातों तत्त्व उपादेय नहीं हैं।[१]

आत्मा अनन्त गुणों के पिण्डरूप वस्तु है, वह जीव है; कर्म अजीव है; पर्याय में राग-द्वेषादि के परिणाम होना आस्रव है; जीव का उस परिणाम में अटकना बन्ध है; आत्मा के लक्ष से निर्मलता होना संवर है; विशेष निर्मलता होना निर्जरा है और परिपूर्ण निर्मलता मोक्ष है ह्न इन सात तत्त्वों को यहाँ परद्रव्य कहा है।[२]

सातों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं ह्न ऐसा ज्ञान करने के लिए प्रथम राग की वृत्ति उठती है; किन्तु सम्यग्दर्शन का विषय अथवा ध्येय राग नहीं है; राग से पुण्य बन्ध होता है, उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता; इसलिए उस राग को हेय कहा है।[३]

कारणशुद्धपरमात्मा जो मोक्ष का आधार है, स्वभावभाव है; उसके रागमिश्रित विचार को भी हेय कहा है, आदरणीय नहीं कहा; तो फिर दया, दान, व्रतादि के परिणाम तो हेय ही हैं, आदरणीय नहीं ह्न यह बात इसमें आ जाती है।[४]

इस भांति सातों तत्त्वों का रागमिश्रित विचार करना आदरणीय नहीं है, हेय है। **सिद्ध तथा केवली भगवान भी इस जीव के लिए परजीव हैं। 'मैं जीव हूँ' ह्न ऐसा विकल्प भी आदरणीय नहीं है।** यह बात सर्वज्ञ के अलावा अन्यत्र नहीं है।[५]

धर्मी जीव के शुद्ध आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई वीतरागी पर्याय के आश्रय से भी विकल्प की उत्पत्ति होती है; इसलिए उसकी भी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३१२ २. वही, पृष्ठ ३१२
३. वही, पृष्ठ ३१२ ४. वही, पृष्ठ ३१३ ५. वही, पृष्ठ ३१६

परिगणना परद्रव्य में करके उपादेय नहीं है ह्न ऐसा कहा है। शुद्ध आत्मा ही एक धर्म का कारण है; अत: उसी को उपादेय कहेंगे।[१]

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में तथा पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में सात तत्त्व अथवा नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है; वह व्यवहारसम्यग्दर्शन की बात नहीं है; अपितु निश्चय-सम्यग्दर्शन की ही बात है।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यहाँ इस शास्त्र में सात तत्त्वों को परद्रव्य कहकर हेय क्यों कहा है ? इन दोनों कथनों में सुमेल किस प्रकार है ?

यहाँ नियमसार में जो सात तत्त्वों को परद्रव्य कहकर हेय कहा है, वह रागयुक्त श्रद्धा को कहा है; कारण कि उसमें विकल्प उठता है और विकल्प से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए हेय कहा; जबकि तत्त्वार्थसूत्र में रागरहित नव तत्त्व की श्रद्धा की बात है।

धर्मी जीव जब अपने त्रिकाली शुद्धस्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान करके स्व-अस्तिरूप से परिणमन करता है, तब सात तत्त्वों के विकल्प का परिणमन नास्तिरूप हो रहा है अर्थात् उसमें सातों का निर्विकल्पज्ञान आ जाता है। सात तत्त्व के समक्ष जुदा-जुदा देखने से आत्मा का या सात तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु **स्व की अस्ति में परिणमन होने पर तथा सातों के विकल्प के अभावरूप परिणमन होने पर स्व का यथार्थ ज्ञान होने से स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण सातों का ज्ञान आ जाता है।** इस अपेक्षा से सात अथवा नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है, वह उचित ही है।[२]

कारणपरमात्मा ही वास्तव में आत्मा है। मुनि को तथा धर्मी जीव को आत्मा ही उपादेय है। सात तत्त्वों का रागसहित विचार करना उपादेय नहीं है। सम्यग्दर्शन का ध्येय तो कारणपरमात्मा ह्न शुद्ध आत्मा है और वही उपादेय है।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३१६ २. वही, पृष्ठ ३१९-३२० ३. वही, पृष्ठ ३२०

देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से, शरीर से अथवा कर्म के मन्दोदय से तो धर्म होता ही नहीं, दया-दानादि के शुभभावरूप औदयिक भावों से भी धर्म नहीं होता तथा उपशम, क्षयोपशम एवं क्षायिकभाव यद्यपि वीतरागी पर्यायें हैं; तथापि उनके आधार से धर्म नहीं होता। इसका कारण यह है कि ये सब पर्यायें हैं और पर्याय में से पर्याय नहीं आती।

धर्म तो त्रिकाली परमपारिणामिकस्वभावभाव के आश्रय से ही होता है; चार भावों के आश्रय से धर्म नहीं होता।

त्रिकाल की अपेक्षा से एक समय की पर्याय को भिन्न कहा है। सामान्य की अपेक्षा से विशेषभाव भिन्न है और विशेष की अपेक्षा से सामान्य भी भिन्न है, अन्य है। परमपारिणामिकभाव की अपेक्षा से चार भाव अन्य हैं और चार भावों की अपेक्षा से परमपारिणामिकभाव अन्य है; अत: अन्य भावों के आश्रय से धर्म नहीं होता, किन्तु **एकरूप पारिणामिकभाव के आश्रय से ही धर्म होता है।**[१]

कारणपरमात्मा कहो, शुद्ध चैतन्यस्वभाव कहो, चिदानन्द भगवान कहो, निरुपाधि स्वभावभाव कहो, सब एक ही है। सम्यग्दर्शन का विषय, द्रव्यदृष्टि का विषय कारणपरमात्मा है; वास्तव में वही आत्मा है और वही उपादेय है अर्थात् उसी का आश्रय सदैव करने योग्य है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि परमपारिणामिकभावरूप स्वयं के आत्मा से भिन्न जीवादि बाह्य तत्त्व परपदार्थरूप होने से अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं है; अत: हेय हैं और उनसे भिन्न **कर्मोपाधिजनित विभावभावों से निरपेक्ष परमपारिणामिकभावरूप अपना आत्मा अपनापन स्थापित करने योग्य है; अत: उपादेय है।**

वस्तुत: बात यह है कि यहाँ परमभावग्राहीशुद्धद्रव्यार्थिकनय अथवा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत **परमपारिणामिकभावरूप कारण-परमात्मा को ही आत्मा कहा गया है;** क्योंकि उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। उक्त आत्मा में ही अपनापन

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३२३ २. वही, पृष्ठ ३२५

होने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन, उसे ही निजरूप जानने का नाम निश्चय सम्यग्ज्ञान और उसमें ही जम जाने-रम जाने का नाम निश्चय सम्यक्चारित्र है। अत: एकमात्र वही उपादेय है तथा उससे अन्य जो कुछ भी है, वह सभी हेय है।

यद्यपि उक्त कथन सभी भव्यजीवों के लिए है; तथापि यहाँ मुनिराजों की मुख्यता से बात की है। यही कारण है कि यहाँ मुनिराजों का स्वरूप भी सहजभाव से स्पष्ट हो गया है।

यहाँ मुनिराजों को सहजवैरागी, परद्रव्यों से पराङ्मुख, जितेन्द्रिय, अपरिग्रही, जिनयोगीश्वर और स्वद्रव्य में रत कहा गया है।।३८।।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति समयसार: सर्वतत्त्वैकसार:
सकलविलयदूर: प्रास्तदुर्वारमार:।
दुरिततरुकुठार: शुद्धबोधावतार:
सुखजलनिधिपूर: क्लेशवाराशिपार:।।५४।।

(रोला)

सकलविलय से दूर पूर सुखसागर का जो।
क्लेशोदधि से पार शमित दुर्वारमार जो।।
शुद्धज्ञान अवतार दुरिततरु का कुठार जो।
समयसार जयवंत तत्त्व का एक सार जो।।५४।।

जो सर्वतत्त्वों में सारभूत तत्त्व है, नाशवान भावों से दूर है, दुर्वार कामभाव का नाशक है, पापरूपी वृक्षों के छेदनेवाला कुठार है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुखसागर की बाढ है और जो क्लेशरूपी सागर का किनारा है; वह समयसार अर्थात् शुद्धात्मा जयवंत वर्तता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सात तत्त्वों में शुद्धजीवतत्त्व एक ही सार है, अन्य कोई सार नहीं

है। संवर, निर्जरा, मोक्ष साररूप नहीं है, कारण कि वे एकसमय की पर्याय हैं, उनके लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है, अत: वे सार नहीं हैं। परमपरिणामिकभाववाला जीवतत्त्व एक ही सार है।[१]

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक ह्न ये सभी नाशवान भाव हैं; उनसे शुद्धात्मा दूर है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो नाश को प्राप्त होते हैं; किन्तु क्षायिकभाव को भी नाशवान कहने का कारण यह है कि **केवलज्ञान अथवा सिद्धदशा की पर्यायें भले ही प्रवाहरूप से सादि-अनन्तकाल तक रहें तो भी एक पर्याय का काल तो एक समय का ही है।** एक समय में एक, दूसरे समय में दूसरी, इसप्रकार पर्याय प्रतिसमय पलटती रहती है; इसलिए नाशवान है ह्न ऐसा कहा है। परमपारिणामिकभाव एकरूप अनादि-अनन्त रहता है, इसलिए क्षायिकादि चार भावों से शुद्धात्मा दूर है ह्न ऐसा कहा है।[२]

काम=परपदार्थ की इच्छा। त्रिकालीशुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से पर की तरफ के झुकाव का नाश हो जाता है, ध्रुवस्वभाव के आश्रय से कार्य होता है; ऐसा कहकर शुद्धध्रुवस्वभाव की महिमा बतलाते हैं।[३]

जिसप्रकार कुठार वृक्ष को मूल से छेदता है, उसीप्रकार शुद्धचैतन्य-स्वभाव का आश्रय लेने से मिथ्यात्वादिरूप पाप मूल से उखड़ जाते हैं और पुन: नहीं उगते।[४]

शुद्धस्वभाव के आश्रय से नवीन यथार्थज्ञान प्रकट होता है, मानो चैतन्य का पिण्ड आत्मा नया जन्मा हो; ऐसा कहकर शुद्धचैतन्यत्रिकाली स्वभाव को ही शुद्धज्ञान का अवतार कहा है।[५]

परमपारिणामिकभाववाले निजकारणपरमात्मा की दृष्टि करने से अविनाशी सुख प्रकट होता है।[६] और शुद्धचैतन्यस्वभाव का आश्रय लेने पर पर्यायबुद्धिरूपी क्लेश का अन्त आ जाता है।[७]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३२७

२. वही, पृष्ठ ३२७ ३. वही, पृष्ठ ३२७ ४. वही, पृष्ठ ३२७

५. वही, पृष्ठ ३२८ ६. वही, पृष्ठ ३२८ ७. वही, पृष्ठ ३२८

कथन का सार यह है कि निमित्त की, शुभराग की, एक समय की निर्मलपर्याय की पर्यायबुद्धि छोड़ और त्रिकालीशुद्धस्वभाव की रुचि करके स्वभावबुद्धि कर।[१]''

उक्त छन्द में समयसाररूप निज भगवान आत्मा को सभी तत्त्वों का सार, सम्पूर्ण क्षणिकभावों से दूर, सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित, पापरूपी वृक्षों के लिए कुठार के समान घातक, शुद्धज्ञान का अवतार, सभीप्रकार के कष्टों के सागर से पार और आनन्दरूपी जलनिधि का पूर कहा गया है॥५४॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३२८

णमोकार मंत्र पढने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे ह्न यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मंत्र बोलेगा; तब-तब देवता आवेंगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है ह्न ऐसा करने से ऐसा होता ही है; यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है; अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है ? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता ?

ज्ञानी भी णमोकार मंत्र पढ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकार मंत्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकार मंत्र तो वह सहज अशुभ भाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है। **ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-१००**

नियमसार गाथा ३९

विगत गाथा में जीवादि बाह्य तत्त्वों को हेय और कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्धात्मा को उपादेय कहा गया है और अब आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट करेंगे कि उक्त आत्मा में क्या-क्या नहीं है।

निर्विकल्पतत्त्व का स्वरूप बतानेवाली ३९वीं गाथा इसप्रकार है ह्न

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा।।३९।।

(हरिगीत)

अरे विभाव स्वभाव हर्षाहर्ष मानपमान के।
स्थान आतम में नहीं ये वचन हैं भगवान के।।३९।।

वस्तुत: जीव में न तो स्वभाव स्थान (विभावस्वभाव के स्थान) हैं, न मानापमान भाव के स्थान हैं और न हर्ष-अहर्ष के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। त्रिकाल निरुपाधि स्वरूपवाले शुद्धजीवास्तिकाय के विभावरूप स्वभाव के स्थान नहीं हैं; प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मानापमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं; शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म नहीं हैं, शुभकर्म का अभाव होने से सांसारिक सुख नहीं है और सांसारिक सुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं है तथा अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है, अशुभकर्म का अभाव होने से दुख नहीं है और दुख का अभाव होने से अहर्ष के स्थान नहीं हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्धजीव कहो, निरुपाधिस्वभाव कहो, परमपारिणामिकभाव

कहो, कारणपरमात्मा कहो, द्रव्यस्वभाव कहो, शुद्धचैतन्य ध्रुवस्वभाव कहो ह्न यह सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जीव के शुद्धस्वरूप में राग-द्वेषादि की उपाधि नहीं है, वह तीनों काल निरुपाधिस्वभाववाला है।[१]

यहाँ विभाव को स्वभाव कहने का कारण यह है कि जीव स्वतंत्रपने से पर्याय में विभाव करता है; उस समय की पर्याय का वह स्वभाव है ह्न ऐसा बतलाने के लिए उसे स्वभाव कहा है। यदि शुद्धस्वभावदृष्टि से देखा जावे तो शुद्धस्वभाव में विभाव का अभाव है। **शुद्धस्वभाव में विभाव प्रविष्ट हो तो त्रिकालीस्वभाव ही विभावरूप हो जाय और शुद्ध होने का कभी अवसर ही प्राप्त न हो।** विभाव व्यवहार है, उसे गौण करके अभूतार्थ कहकर स्वभाव में उसका अभाव बतलाकर स्वभाव का आदर करने के लिए कहा गया है।[२]

संसारी जीव की पर्याय में एक समय जितना मोह-राग-द्वेष का परिणाम है, किन्तु स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो शुद्धस्वभाव में उनका अभाव है। जिस भाव से तीर्थंकर पुण्यप्रकृति बंधती है, उस भाव का भी शुद्धस्वभाव में अभाव है। स्वभाव में मोह-राग-द्वेष का अभाव है, इसलिए मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं। **जिससमय मान-अपमान की पर्याय है, उसीसमय त्रिकालशुद्धस्वभाव मान-अपमान रहित पड़ा हुआ है। अत: अन्तर्मुख रुचि करके अपने शुद्धात्मा की ऐसी दृढता कर** कि जिससे दूसरी वस्तु का तुझे अभिमान न हो। यहाँ पुण्य-पाप का अभिमान छोड़कर स्वभाव की रुचि कराते हैं।[३]

दया, दान, भक्ति, पूजा, स्वाध्याय, पंचमहाव्रतादि का भाव शुभ-परिणति है। जीव की एक समय की पर्याय में शुभपरिणति होती है। यदि स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो शुद्धजीव के शुभपरिणति का अभाव है। शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्म का भी जीव में अभाव है।

शुद्धजीव में तो शुभपरिणति नहीं, कर्म भी नहीं, संसार-सुख नहीं

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३३१
२. वही, पृष्ठ ३३१
३. वही, पृष्ठ ३३२-३३३

तथा हर्ष की कल्पना भी नहीं। शुद्धस्वभाव तो इन सभी से रहित है।[१]

जीव अपने स्वभाव को चूककर काम, क्रोध, शोकादि के भाव पर्याय में करता है; किन्तु शुद्धात्मा में तो उनका अभाव है। इसीकारण अशुभकर्म का भी अभाव है। अशुभकर्म नहीं होने से उनकी तरफ का दिलगीरी का (दु:ख का) भाव भी नहीं है।

इसप्रकार निर्णय करने के पश्चात् वे सभी भाव शुद्धस्वभाव में नहीं है ह्न ऐसा कहकर पर्यायदृष्टि छुड़ाई है और द्रव्यदृष्टि कराई है।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में न तो विभावस्वभाव के स्थान हैं, न मानापमान के स्थान हैं, न हर्ष और अहर्ष भाव के स्थान हैं। वह तो इन सबसे भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है, ज्ञानानन्दस्वभावी परमपदार्थ है; उसके आश्रय से ही मुक्ति-मार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।।३९।।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे नि:शेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दु:कृते: ।।५५।।

(रोला)

चिदानन्द से भरा हुआ नभ सम अकृत जो।
राग-द्वेष से रहित एक अविनाशी पद है।।
चैतन्यामृत पूर चतुर पुरुषों के गोचर।
आतम क्यों न रुचे करे भोगों की वांछा।।५५।।

हे आत्मन् ! तू ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता; जो प्रीति और अप्रीति से रहित शाश्वत पदरूप है, जो पूर्णत: अन्तर्मुख और

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३३३-३३४
२. वही, पृष्ठ ३३७

प्रगट प्रकाशमान सुख से बना हुआ है; जो आकाश के समान अकृत (जिसे किसी ने नहीं बनाया ह्न ऐसा) तत्त्व है, चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ है और विचारवान चतुर पुरुषो द्वारा अनुभूत है? ऐसे भगवान आत्मा के होते हुए भी हे आत्मन् ! तू पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा क्यों करता है ?

अनादिकाल से यह आत्मा परपदार्थों में अपनापन स्थापित करके, उन्हीं में रचा-पचा रहा है। अब सैनी पंचेन्द्रिय होकर, मनुष्य भव पाकर, जैनकुल में जन्म लेकर, जिनागम का अभ्यास करके भी, सद्गुरुओं के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी; उन्हीं पापरूप सांसारिक सुखों की वांछा करता है, उन्हें प्राप्त करने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है।

यही कारण है कि विषय-कषाय से अत्यन्त विरक्त मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव करुणा से विगलित होकर कह रहे हैं कि हे सुखाभिलाषी भव्यजनों ! तुम ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा अनुभूत उस शुद्धात्मा की भावना क्यों नहीं करते; जो अनंत शाश्वत सुख का सागर है, सदा प्रकाशमान है, अनादि-अनंत है, चैतन्यामृत से लबालब है ?

इस विषय-कषाय की भावना से तुझे क्या मिलनेवाला है?।५५।।●

जिस कार्य की उत्पत्ति में काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं; उसे अकालनय का विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है; उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल में कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।

इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कार्य समय के पहले हो गया। **ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-९४**

नियमसार गाथा ४०

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में विभावभाव के स्थान नहीं हैं, मानापमान के स्थान नहीं हैं और हर्षाहर्षभाव के स्थान भी नहीं हैं; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि उक्त आत्मा में बंध व उदय के स्थान भी नहीं हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा।।४०।।

(हरिगीत)

स्थिति अनुभाग बंध एवं प्रकृति परदेश के।
अर उदय के स्थान आतम में नहीं ह्न यह जानिये।।४०।।

जीव के न तो स्थितिबंधस्थान है, न प्रकृतिबंधस्थान हैं, न प्रदेशस्थान हैं, न अनुभाग स्थान हैं और न उदयस्थान ही हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव के नहीं है ह्न यह कहा गया है।

सदा ही जिसका स्वरूप उपराग रहित है ह्न ऐसे निरंजन निज-परमात्मतत्त्व के; द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्थान नहीं है। ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों के, उस-उस कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का आकार प्रकृतिबंध है; उस प्रकृति बंध के स्थान भी जीव के नहीं है। अशुद्ध आत्मा और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश प्रदेशबंध है; इस प्रदेशबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं। शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा के समय सुख-दुखरूप फल देने की सामर्थ्य ही अनुभाग बंध है; इस अनुभागबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं।

जिसप्रकार बंध के उक्त स्थान जीव के नहीं है; उसीप्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्मों के उदय के स्थान भी जीव के नहीं हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ जो जीव कहा है, वह द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जो प्रमाण का विषय होता है, वह जीव नहीं लेना है, विकारीपर्यायवाला अथवा निमित्त के संबंधवाला जीव भी नहीं लेना है; किन्तु विकार से रहित एकरूप त्रिकाली शुद्धभाववाला जीव लेना है। ऐसे जीव की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान करके अपने त्रिकालीस्वभाव की ओर ढले तो उस जीव को विकार का अथवा पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है और इसप्रकार दोनों पक्षों का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण जीव का ज्ञान यथार्थ होता है; वही ज्ञान प्रमाणज्ञान है।

इस गाथा में प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव के नहीं है ह्न ऐसा कहा है।[१] द्रव्यकर्म अर्थात् ज्ञानावरणादि जड़कर्मों का उदय तथा उस ओर के लक्ष से होनेवाली पर्याय की हीनता एवं राग-द्वेषादि को भावकर्म का उदय कहते हैं।[२]

यहाँ गाथा में कहा कि प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध, जड़कर्म के उदय के ऊपर का तथा उसप्रकार की एक समय की पर्याय की योग्यता के ऊपर का भी लक्ष छोड़कर शुद्धजीवतत्त्व का लक्ष कर तो धर्मदशा प्रगट होगी।[३]''

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ह्न इन चारों बंधों के स्थान व कर्मों के उदय के स्थान शुद्ध जीव में नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्मों के बंध व उदय में होनेवाली आत्मा की अवस्थायें भी वह आत्मा नहीं है कि जिस आत्मा के आश्रय से मुक्तिमार्ग प्रगट होता है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।।४०।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३४३
२. वही, पृष्ठ ३४७
३. वही, पृष्ठ ३४७

टीकाकार मुनिराज टीका के उपरान्त '**आचार्य अमृतचन्द्र भी कहते हैं**' ह्न ऐसा कहकर आचार्य अमृतचन्द्र कृत एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्।।१८।।[१]

(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में।।
जो है प्रकाशित चतुर्दिक् उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगतजन! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो।।१८।।

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करते, मात्र ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारों ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व-अवस्थाओं में प्रकाशमान है; आत्मा के उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियो! तुम मोहरहित होकर अनुभव करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुभाशुभ परिणामों का शुद्धात्मा में प्रवेश नहीं है। जैसे जल में तेल ऊपर ही तैरता है; वैसे ही आत्मा में राग-द्वेष ऊपर ही ऊपर तैरते हैं। आत्मा कर्मों से बंधा है और कर्म आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहते हैं, यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध एक समय की विकारी पर्याय के साथ है; शुद्धस्वभाव में वह विकार प्रवेश नहीं करता।

जिसप्रकार बन्द मकान में बाहर का मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकता;

१. समयसार की १४वीं गाथा की आत्मख्याति टीका में समागत कलश ११

उसीप्रकार एक समय का संसार त्रिकालीस्वभाव में प्रवेश नहीं कर सकता। ज्ञान-दर्शन की हीनावस्था, राग-द्वेष की विकारी अवस्था तो एक समय की पर्याय में है; वस्तुस्वभाव तो एकरूप सदृश अनादि-अनन्त है।

इसलिए ध्रुव पदार्थ की श्रद्धा करो, उसकी श्रद्धा करने से दृष्टि अपेक्षा से अष्टकर्मों का तथा राग-द्वेष का सर्वथा नाश हो जायेगा और वीतरागता पूर्ण होने पर राग-द्वेष का पूर्णरूपेण अभाव होकर आठ कर्मों का नाश हो जायेगा। त्रिकालशक्ति जो भरी है, उसमें से केवलज्ञान प्रगट होगा। अत: ऐसे शुद्ध स्वभाव का अनुभव करो।[१]''

उक्त छन्द में शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओं में प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे एकत्व का मोह तोड़ो, उन्हें अपना मानना छोड़ो।।१८।।

इसके उपरान्त एक अनुष्टुप और एक वसंततिलका इसप्रकार दो छन्द मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्।।५६।।

(दोहा)

चिदानन्द निधियाँ बसें मुझमें नेकानेक।
विपदाओं का अपद मैं नित्य निरंजन एक।।५६।।

जो नित्यशुद्धचिदानन्दरूप सम्पदा का आकर (भंडार-खान) है तथा जो विपत्तियों का अत्यन्त अपद है अर्थात् जिसमें विपत्तियों का अभाव है, उसी आत्मपद का मैं अनुभव करता हूँ।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३४८-३४९

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्ध आत्मपद ज्ञान और आनन्दरूपी सम्पदा की खान है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करने से ज्ञान और आनन्द की पर्यायें प्रवाहित होती हैं, जो कभी विनष्ट नहीं होतीं, उसमें किसी भी जाति की विपदा नहीं है; अत: शुद्धपद एक ही शरण है। पैसा, मकान, स्त्री, पुत्रादि कोई भी शरण नहीं, क्योंकि मरण समय में वे कोई भी सहायक नहीं होते; किन्तु यदि शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, एकाग्रता जीव में की हो तो वही शरणरूप है। **शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है, संसार अथवा विकार एक समय की पर्याय में है, किन्तु त्रिकालीस्वभाव में वह नहीं है।** मुनिराज छटवी-सातवीं भूमिका में झूलते थे। वे कहते हैं कि मैं इस शुद्धपद का ही अनुभव करता हूँ।[१]''

उक्त छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि जिसमें सभी प्रकार की विपत्तियों का अभाव और सभीप्रकार की संपदाओं का सद्भाव है ह्न ऐसे शुद्धचिदानन्दस्वरूप आत्मा का मैं नित्य अनुभव करता हूँ। तात्पर्य यह है कि आप भी हमेशा इसी आत्मा का अनुभव करो।।५६।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसंततिलका)

य: सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिदारिति संशय: क: ।।५७।।

(वसंततिलका)

निज रूप से अति विलक्षण अफल फल जो।
तज सर्व कर्म विषवृक्षज विष-फलों को।।
जो भोगता सहजसुखमय आतमा को।
हो मुक्तिलाभ उसको संशय न इसमें।।५७।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३४९-३५०

निजरूप से विलक्षण, सभीप्रकार के शुभाशुभकर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले विषफलों को छोड़कर जो जीव इसी समय, सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है; वह जीव अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करता है। ह्न इसमें क्या संशय है अर्थात् इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्वादि अनन्त गुणों का भंडार है। वे अनन्त गुण आत्मा में अभेद हैं, अखण्ड हैं, नित्य हैं। जो जीव उनका अभेदरूप से अनुभव करता है, वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होता है।[१]''

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि **जो पुरुष शुभाशुभकर्मों से विरक्त होकर चैतन्यमय निज आत्मतत्त्व की आराधना करता है; वह अल्पकाल में मुक्ति की प्राप्ति करता है।**

साथ में वे यह भी कहते हैं कि उक्त कथन परमसत्य है, इसमें रंचमात्र भी शंका-आशंका की गुंजाइश नहीं है।।५७।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३५०

सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं; क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अत: यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा जाए कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अत: उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-३**

नियमसार गाथा ४१

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में बंध व उदय के स्थान नहीं है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि आत्मा में उपशम, क्षयोपशम, क्षय और उदयभावों के स्थान भी नहीं हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा।।४१।।

(हरिगीत)

इस जीव के क्षायिक क्षयोपशम और उपशम भाव के।
एवं उदयगत भाव के स्थान भी होते नहीं।।४१।।

इस जीव के न तो क्षायिकभाव के स्थान हैं और न क्षयोपशम स्वभाव के स्थान हैं, न औदयिकभाव के स्थान हैं और न उपशम स्वभाव के स्थान हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चार विभावस्वभावों के कथन के द्वारा पंचमभाव के स्वरूप का कथन है। कर्मों के क्षय से होनेवाले भाव क्षायिकभाव हैं; कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले भाव क्षयोपशमभाव हैं; कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदयिक भाव हैं; कर्मों के उपशम से होनेवाले भाव औपशमिक भाव हैं और सम्पूर्ण कर्मोपाधि से विमुक्त परिणाम से होने वाले भाव पारिणामिकभाव हैं।

इन पाँच भावों में औपशमिकभाव के दो, क्षायिकभाव के नौ, क्षयोपशमभाव के अठारह, औदयिकभाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

उपशम सम्यक्त्व और उपशमचारित्र के भेद औपशमिक भाव दो प्रकार के हैं।

क्षायिकसम्यक्त्व, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होनेवाले क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक-उपभोग और क्षायिकवीर्य ह्न इसप्रकार क्षायिकभाव नौ प्रकार के हैं।

मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ह्न ये चार प्रकार के ज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ह्न ये तीन प्रकार के दर्शन; काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि के भेद से पाँच लब्धियाँ और वेदकसम्यक्त्व, वेदकचारित्र और संयमासंयमपरिणति ह्न इसप्रकार क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार के हैं।

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ह्न ये चार गतियाँ; क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय ह्न ये चार कषायें; स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुंसकलिंग ह्न ये तीन लिंग; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक और असंयम एक, असिद्धत्व एक; शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या, पीतलेश्या, कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या ह्न ये छह लेश्यायें ह्न इसप्रकार औदयिकभाव इक्कीस प्रकार के होते हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ह्न इसप्रकार पारिणामिकभाव तीन प्रकार के हैं।

जीवत्वपारिणामिकभाव भव्यों तथा अभव्यों ह्न सभी के होता है; भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्यों के ही होता है और अभव्यत्वपारिणामिकभाव अभव्यों के ही होता है।

इसप्रकार पाँच भावों का कथन किया।

पाँच भावों में क्षायिकभाव कार्यसमयसारस्वरूप है; वह त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त तीर्थनाथ के, उपलक्षण से सामान्य केवली के तथा सिद्धभगवान के होता है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारियों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं।

पूर्वोक्त चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं। त्रिकालनिरुपाधि स्वरूप निरंजन निज परमपंचमभाव (परमपारिणामिक-भाव) की भावना से पंचमगति में मुमुक्षु जाते हैं, जायेंगे और गये हैं।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ तो कहते हैं कि औदयिकभाव का नाश होने पर प्रगट होनेवाले क्षायिकभाव का भी अवलम्बन करने योग्य नहीं है; क्योंकि वह भी एक समय की पर्याय है, नवीन प्रगट होती है, कर्मक्षय की अपेक्षा रखती है, उसके लक्ष से राग होता है-धर्म नहीं होता।[१]

उपशमभाव आत्मा की निर्मल पर्याय होने पर भी वह आत्मा में से निकल जाता है; क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। पर्याय के लक्ष से राग उत्पन्न होता है तथा अधूरी निर्मल पर्याय में से दूसरी निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। निर्मलता प्रगटने का एकमात्र कारण परमपारिणामिकभाव है। अत: शुद्धजीव का लक्ष कराने के लिए जीव के उपशमरूप स्वभाव भाव के स्थान नहीं हैं ह्न ऐसा कहा है।[२]

यहाँ सकल कर्मोपाधि से विमुक्त का अर्थ 'कर्म से छूटा हुआ' मत समझना; यहाँ तो जिस भाव में कर्मों की अपेक्षा ही नहीं है, उसे विमुक्त कहा है।[३]

जैसा त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, वैसा ही जो परिणमे; उसको पारिणामिकभाव कहते हैं। त्रिकाली द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध; उस सहित जो है, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं। स्वभाव गुण-पर्यायों से संयुक्त और त्रिकाल निरावरण निरंजन परमात्मा है; वैसे परमात्मा के एकरूप रहनेवाले शुद्धभाव को परमपारिणामिकभाव कहते हैं।[४]

औदयिकादिभाव पर्याय के हैं, त्रिकाली स्वभाव के वे भाव नहीं

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३५४
२. वही, पृष्ठ ३५६
३. वही, पृष्ठ ३५६
४. वही, पृष्ठ ३५६

हैं। **परमपारिणामिकभाव इन चार भावों से रहित है। जो द्रव्य का भाव है; त्रिकाल एकरूप शुद्धभाव है; उसके बताने का हेतु यह है कि औदयिकादि चारों भाव तो अनित्य हैं, उनके लक्ष से रागोत्पत्ति होती है; अत: उन चारों अनित्य भावों का लक्ष्य छुड़ाकर नित्य परम-पारिणामिकभाव का लक्ष्य कराया गया है।**[१]

पाँच भावों में क्षायिकभाव, कार्यसमयसाररूप है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है; उसमें श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करने से जो अन्तरशक्ति व्यक्त हुई है, उस पूर्ण निर्मल व्यक्तदशा को कार्यसमयसार कहते हैं।[२]

उदय, उपशम, क्षयोपशम भाव क्षणिक पर्यायें हैं, उनके अवलम्बन से धर्म नहीं होता और क्षायिकभाव के लक्ष से भी राग की उत्पत्ति होती है, इसलिए उनके ऊपर से भी लक्ष छोड़ देना चाहिए। इन चारों में से कोई भी अवलंबन लेने योग्य नहीं है।[३]

जो मुमुक्षु अर्थात् पंचमभाव की भावना वाले जीव शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को भाते हैं; वे वर्तमानकाल में महाविदेहक्षेत्र से मोक्ष जाते हैं, भविष्य में भी जायेंगे और भूतकाल में भी गये हैं।[४]''

इस गाथा में मूल बात तो मात्र यही कही गई है कि भगवान आत्मा में न तो औपशमिकभाव हैं, न क्षायोपशमिकभाव हैं, न क्षायिकभाव हैं और न औदयिक भाव ही हैं; वह तो परमपारिणामिक-भावस्वरूप ही है।

टीका में उक्त पाँचों भावों के ५३ भेद गिना कर यह स्पष्ट कर दिया है कि एक जीवत्व नामक परमपारिणामिकभाव को छोड़कर शेष ५२ भाव आत्मा में नहीं हैं। अन्त में कह दिया कि **मुक्ति की प्राप्ति तो एकमात्र परमपारिणामिकभाव के आश्रय से ही होती है।**

जानने योग्य विशेष बात यह है कि इस गाथा की टीका में १८

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३५६-३५७
२. वही, पृष्ठ ३६६
३. वही, पृष्ठ ३६६
४. वही, पृष्ठ ३६६-३६७

प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में समागत पाँच लब्धियों के जो नाम गिनाये गये हैं; वे आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक वार्तिक से मिलते नहीं हैं।

यहाँ नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भावों में काललब्धि, करणलब्धि, उपदेश (देशना) लब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि के रूप में पाँच लब्धियों को लिया है; जबकि तत्त्वार्थराजवार्तिक के दूसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र के सातवें वार्तिक में क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिकदान ह्न इनको पाँच लब्धि के रूप में लिया गया है।[१]

उपशम सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों में इसप्रकार के भेद अवश्य पाये जाते हैं; किन्तु उक्त प्रकरण का यहाँ कोई प्रसंग नहीं है।

दूसरी बात यह है कि वहाँ जो नाम प्राप्त होते हैं, ये नाम पूरी तरह उनसे भी नहीं मिलते। वहाँ प्राप्त होनेवाले नाम इसप्रकार हैं ह्न क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि।[२]

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत पाँच लब्धियों में क्षयोपशमलब्धि और विशुद्धिलब्धि प्राप्त नहीं होती। उनके स्थान पर काललब्धि और उपशमलब्धि है।

यदि काललब्धि को क्षयोपशमलब्धि और उपशमलब्धि को विशुद्धिलब्धि माने तो भी दोनों कथनों में क्रम का अन्तर तो है ही।।४१।।

टीका के अन्त में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द लिखते हैं। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः।।५८।।

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक : अध्याय २, सूत्र ५ का ८वाँ वार्तिक
२. गोम्मटसार : जीवकाण्ड, गाथा ६५१

(दोहा)

विरहित ग्रंथ प्रपंच से पंचाचारी संत।
पंचमगति की प्राप्ति को पंचमभाव भजंत।।५८।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप पंचाचारों से युक्त एवं सम्पूर्ण परिग्रह के प्रपंच से रहित विद्वान (मुनिराज) पूज्यनीय पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचमभावरूप परमपारिणामिकभाव का स्मरण करते हैं; उसी को निजरूप जानते हैं, उसमें ही अपनापन स्थापित करते हैं और उसी का ध्यान करते हैं।

उक्त छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी **विद्वान** शब्द का अर्थ इसप्रकार करते हैं ह्न

''परमपारिणामिकस्वभावरूप त्रिकालीशुद्धनित्यस्वभाव का जिसको भान है और उस स्वभाव के आश्रय से ही मोक्षदशा प्रगट होती है ह्न ऐसा जो मानता है तथा जो उस मोक्षगति की प्राप्ति के लिए शुद्धस्वभाव को भजता है; उसे विद्वान कहते हैं।[१]''

ध्यान रहे इस छन्द में विद्वान शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न मुनिराजों के अर्थ में किया गया है; क्योंकि पंचाचारों से सम्पन्न और सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित मुनिराज ही होते हैं।।५८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः।।५९।।

(हरिगीत)

भोगियों के भोग के हैं मूल सब शुभकर्म जब।
तत्त्व के अभ्यास से निष्णातचित मुनिराज तब।।
मुक्त होने के लिए सब क्यों न छोड़ें कर्म शुभ।
क्यों ना भजें शुद्धातमा को प्राप्त जिससे सर्व सुख।।५९।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३७०

सभी प्रकार के शुभकर्म भोगियों के भोग के मूल हैं। इसलिए परम तत्त्व के अभ्यास में चतुरचित्तवाले हे मुनिजनों ! तुम संसारबंधन से मुक्त होने के लिए सभी प्रकार के शुभकर्मों को छोड़ो और सारतत्त्वरूप द्रव्य और भाव ह्न दोनों प्रकार के समयसार (शुद्धात्मा) को भजो। इसमें क्या दोष है ? अर्थात् इसमें कोई दोष नहीं है।

उक्त छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति, स्वाध्यायादिरूप शुभभाव के फल में जो अनुकूल संयोग मिलते हैं; वे संसार हैं, भोगियों के भोग के मूल हैं। वे शुभभाव आत्मा के धर्म का कारण नहीं हैं।[१]

मुनियों को शुभभाव का आदर तो है ही नहीं, उसका तो उनके निषेध ही वर्तता है; परन्तु अस्थिरता के शुभभाव को भी छोड़ो ह्न यहाँ तो ऐसा कहते हैं। ऐसा भी कहते हैं कि शुद्धस्वभाव और उससे प्रगटित शुद्धपर्याय ह्न इसप्रकार दोनों समयसार को भजो।

त्रिकालस्वभाव की सेवा करने में दोनों की सेवा आ जाती है; दोनों में अविनाभावी संबंध है। यह तो समझाने की-उपदेश की शैली है कि शुभव्यवहार को छोड़ो और शुद्धस्वभाव जो निश्चय है, उसको भजो; **वास्तव में तो शुद्धस्वभाव का ग्रहण करते ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है और शुभभाव स्वयं ही छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता।**[२]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **सभी प्रकार के शुभ कर्मों का फल अधिकांशत: भोग सामग्री की उपलब्धि ही होता है। यही कारण है कि यहाँ चतुरचित्तवाले मुनिराजों से यह अनुरोध किया गया है कि वे सभी प्रकार के शुभकर्मों से विरक्त हो निज शुद्धात्मा का ध्यान करें।**

साथ में यह भी कहा गया है कि हम जो कह रहे हैं; वह बात पूर्णत: निर्दोष है। इस कथन में किसी भी प्रकार का दोष निकालना समझदारी का काम नहीं है।।५९।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३७० २. वही, पृष्ठ ३७१

नियमसार गाथा ४२

जीव के क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव और उदयभाव के स्थान नहीं हैं ह्न विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जीव के चतुर्गति परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी नहीं हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।।४२।।

(हरिगीत)

चतुर्गति भव भ्रमण रोग रु शोक जन्म-जरा-मरण।
जीवमार्गणथान अर कुल-योनि ना हों जीव के।।४२।।

चार गति के भवों में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी इस जीव के नहीं हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है।

द्रव्यकर्म और भावकर्मों की स्वीकृति का अभाव होने से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ह्न इन चार गतियों का परिभ्रमण जीव के नहीं है।

नित्यु शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मास्वरूप जीव के द्रव्यकर्म व भावकर्म के ग्रहण करने योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक जीव के नहीं हैं।

चार गतियों में परिभ्रमण करनेवाले जीवों को होनेवाले कुल और योनि के भेद भी शुद्धजीव के नहीं हैं।

कुल व योनि के वे भेद इसप्रकार हैं ह्न पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख करोड़

कुल हैं; तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साढे बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर (नभचर) जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैरवाले जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकी जीवों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं; मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; अपकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; तेजकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वायुकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; नित्यनिगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; चतुर्गति (चार गति में परिभ्रमण करनेवाले अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनिमुख हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं; द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं; देवों के चार लाख योनिमुख हैं; नारकी जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; तिर्यंच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर चौरासी लाख (८४०००००) योनिमुख हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त ह्न ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या,

भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार ह्न ऐसे भेदस्वरूप चौदह मार्गणास्थान हैं।

यह सब, उन भगवान परमात्मा को शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से नहीं हैं ह्न ऐसा भगवान सूत्रकर्ता श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अभिप्राय है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''त्रिकाली स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि से अर्थात् एकरूप शुद्धस्वभाव को देखनेवाले ज्ञान के पक्ष से देखने में आवे तो जीव त्रिकालशुद्ध है और समस्त सांसारिक विकारों का समुदाय नहीं है ह्न ऐसा इस गाथा में कहा है।[१]

त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि ज्ञानावरण आदि आठ पुद्गल कर्मों का तथा राग-द्वेषादि भावकर्मों को स्वीकार नहीं करती। पुण्य-पापादि क्षणिक भावों को जो जीव स्वीकार करता है, उसको शुद्धस्वभाव का स्वीकार नहीं है; अत: वह नवीन कर्म बांधता है और चतुर्गति में भटकता है।

धर्मीजीव को पुण्य-पाप का तथा कर्म का स्वीकार नहीं, उसे तो शुद्धचैतन्य का स्वीकार है; उसे पर्यायबुद्धि नहीं, स्वभावबुद्धि है। ज्ञानी को भी निर्बलता का राग-द्वेष होता है, किन्तु वह गौण है। उसका अस्वीकार है; अत: उसी के फलरूप गति का भी स्वीकार नहीं।[२]

यह शुद्धभाव का अधिकार है। शुभाशुभ भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, उनकी तो नहीं; किन्तु शुद्धस्वभाव के आश्रय से जो शुद्धभाव नवीन प्रगट होता है, उसकी भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो चैतन्यस्वभाव-एकरूप शुद्धस्वभाव जो शुद्धता प्रकट होने का कारण है ह्न ऐसे अनादि-अनन्त एकरूप कारणशुद्धभाव का अधिकार है।

कारणशुद्धभाव कहो, कारणपरमात्मा कहो, एकरूप सदृशस्वभाव

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३७४ २. वही, पृष्ठ ३७४

कहो, चैतन्यस्वभाव कहो, परमपारिणामिकभाव कहो ह्न सभी एकार्थवाचक हैं। ऐसे शुद्धभाव के आश्रय से धर्मदशा प्रकट होती है।[१]

ऐसा लेख पढकर कोई स्वच्छन्दी जीव ऐसा अर्थ निकाले कि **आत्मा एकान्त से शुद्ध है और पर्याय में भी अशुद्ध नहीं है तथा भेद भी नहीं है, मात्र अभेद और कूटस्थ ही है, तो ऐसी मान्यता खोटी है।**

आत्मवस्तु ध्रुव होने पर भी पर्याय अपेक्षा से समय-समय पलटती है। सिद्धों में भी परिणमन है। संसारी हो अथवा सिद्ध, सभी में प्रतिसमय अवस्था होती रहती है।

द्रव्य परिणामरहित कभी भी नहीं हो सकता। संसार में अशुद्धरूप और सिद्ध में शुद्धरूप जो भी परिणमन है; वह पर्याय में पर्यायदृष्टि से सत् हैं, अवस्तु नहीं।[२]

पर्याय में अशुद्धता के भेद पड़ते हैं ह्न इस तरह पर्याय का स्वीकार करे और त्रिकालस्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं ह्न इसप्रकार निश्चय से स्वीकार करे तो व्यवहारप्रमाणज्ञान होता है।[३]

अकेले भेदों को माने और अभेद त्रिकालीस्वभाव की तरफ न ढले तो उसका ज्ञान खोटा है। अभेद स्वभाव को शुद्ध मानकर पर्याय की अशुद्धता अथवा पर्याय को ही न स्वीकारे तो भी खोटा है।

पर्याय का ज्ञान करके त्रिकालस्वभाव में ऐसे भेद नहीं हैं ह्न यह बात यहाँ कहना है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती; किन्तु त्रिकालशक्ति में से पर्याय प्रगट होती है; इसलिए अंशबुद्धि, व्यवहारबुद्धि छुड़ाने के लिए और अभेदबुद्धि, स्वभावबुद्धि कराने के लिए जीव में मार्गणा-स्थानादि के भेद नहीं हैं ह्न ऐसा कहा।

ऐसा अभेद शुद्धभाववाला आत्मा सम्यग्दर्शन का कारण है।[४]''

यद्यपि इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि इस भगवान आत्मा के जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, जीवस्थान,

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३७८
२. वही, पृष्ठ ३८२
३. वही, पृष्ठ ३८३
४. वही, पृष्ठ ३८३

मार्गणास्थान और चतुर्गति परिभ्रमण नहीं है; तथापि टीका में जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेदों को भी नाम सहित गिना दिया है। न केवल इतना ही बल्कि चौरासी लाख योनियाँ और एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ कुलों को भी विस्तार से स्पष्ट किया है।।४२।।

इसके बाद टीकाकार **'तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर दो छन्द उद्धृत करते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार हैह्न

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्।।१९।।[१]

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर।
चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर।।
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धातमा।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यातमा।।१९।।

हे भव्यात्मन् ! चैतन्यशक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को छोड़कर और अपने चैतन्यशक्तिमात्र भाव को प्रगटरूप से अवगाहन करके लोक के समस्त सुन्दरतम पदार्थों के ऊपर तैरनेवाले अर्थात् पर से पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपने आत्मा में ही देखो, अपने-आप में ही साक्षात्कार करो, साक्षात् अनुभव करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जिसप्रकार मोती लेने के लिए समुद्र में डुबकी लगाते हैं; उसीप्रकार निश्चयनय से शुद्धस्वभाव का अवलम्बन करके, उसमें एकाग्रता करो और समस्त विश्व के ऊपर तैरते हुए अखण्ड अविनाशी केवल आत्मा

१. समयसार : कलश ३५

को आत्मा में साक्षात् अनुभवो। दया-दान-भक्ति एक समय के परिणाम हैं, उनसे धर्म होनेवाला नहीं, उन सभी भावों से भिन्न शुद्धात्मा में डुबकी मारो; क्योंकि उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके एकाग्र होने पर अन्य सकल भाव छूट जाते हैं।

शुद्ध आत्मा का अनुभव किसी परपदार्थ से तो नहीं, किन्तु विकार से भी नहीं होता; शुद्ध अनुभव तो स्वयं से होता है। शुद्ध आत्मा को आत्मा में अनुभवो ह्न ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं।[१]''

समयसार की आत्मख्याति टीका में समागत उक्त छन्द में यही कहा गया है कि वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितने भी भाव हैं; वे सभी चित्शक्तिमात्र आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं; अत: उन सभी भावों से अपने उपयोग को समेटकर अनन्त गुणों के अखण्डपिण्ड चित्शक्तिमात्र अविनाशी एक उक्त आत्मा में ही लगा दो।।१९।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ता: सर्वेऽपि भावा: पौद्गलिका अमी।।२०।।[२]

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वे हैं जीव।
उन्हें छोड़कर और सब, पुद्गलमयी अजीव।।२०।।

जिसका सर्वस्व, जिसका सार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है; वह जीव मात्र इतना ही है; क्योंकि इस चैतन्यशक्ति से शून्य जो भी अन्यभाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जानने-देखनेवाला स्वभाव ही एक साररूप है और यह जीव इतना ही मात्र है तथा जो जानने-देखने के स्वभाव से शून्य विकारी भाव हैं; वे

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८४-३८५ २. समयसार : कलश ३६

साररूप नहीं हैं, वे सभी पौद्गलिक हैं।

पुण्य-पाप के भावों को यहाँ पौद्गलिक कहा ह्न उसका भाव यह नहीं है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले हैं; क्योंकि वे विकारी पर्यायें जीव में ही होती हैं, जड़ में नहीं होतीं।

तत्त्वार्थसूत्र में पर्याय अपेक्षा से विकार को स्वतत्त्व कहा है। विकार पुद्गल के लक्ष से होता है और शुद्धस्वभाव में वह नहीं है तथा आत्मा में से निकल जाता है; इस अपेक्षा से उसे पौद्गलिक कहा है। अत: चैतन्यशक्ति जिसका सार है ह्न ऐसे शुद्धात्मा को तू भज। सम्पूर्ण कथन का सार यह है।[१]''

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि भगवान आत्मा तो चैतन्य शक्तिमात्र है। इससे भिन्न जितने भी भाव हैं; वे सभी भाव पौद्गलिक हैं, अजीव हैं, अचेतन हैं। **तात्पर्य यह है कि ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को छोड़कर अन्य सभी भाव अपनापन स्थापित करने योग्य नहीं हैं, निजरूप जानने योग्य नहीं हैं, जमने-रमने योग्य नहीं हैं; अत: हे आत्मन् इन सबमें से एकत्व-ममत्व तोड़कर स्वयं में ही समा जावो।।२०।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव दो छन्द स्वयं लिखते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्प: समाधि:
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेष:।।६०।।

(रोला)

रहे निरन्तर ज्ञानभावना निज आतम की।
जिनके वे नर भव विकल्प में नहीं उलझते।।
परपरिणति से दूर समाधि निर्विकल्प पा।
पा जाते हैं अनघ अनूपम निज आतम को।।६०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८५

अनवरतरूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा संसार के घोर विकल्पों में नहीं उलझता; अपितु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता हुआ परपरिणति से दूर, अनुपम, अनघ (पाप रहित) चिन्मात्र आत्मा को प्राप्त करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं; आत्मा शुद्ध है ह्न ऐसी जो भावना भाता है, वह संसार के घोर विकल्पों को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसको व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की भी रुचि नहीं रहती। आत्मा की भावना तो स्वयं पर्याय है, परन्तु उस पर्याय का ध्येय त्रिकाली शुद्धस्वभाव है।

इसप्रकार जो जीव पुण्य-पापादि व्यवहार की रुचि छोड़कर शुद्ध-स्वभाव की रुचि करता है, वह निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है। यही जीव पुण्य-पाप की परिणति से दूर है, जिसको कोई उपमा न दी जा सके ह्न ऐसा है और पुण्य-पाप के दोष रहित शुद्ध चैतन्यमात्र को प्राप्त करता है।

इस भांति जो जीव त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की भावना भाता है; वह जीव शान्ति को अर्थात् मोक्षदशा को पाता है।[१]''

इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस भगवान आत्मा की आराधना करनेवाला आत्मा सांसारिक विकल्पों में नहीं उलझता; वह तो निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके अनुपम चिन्मात्र निज भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि यदि हम भी आत्मा की आराधना करना चाहते हैं तो हमें सांसारिक विकल्पों से दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि निर्विकल्प हुए बिना आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं है।।६०।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८६

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रेः।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः।।६१।।

(रोला)

भक्तामर की मुकुट रत्नमाला से वंदित।
चरणकमल जिनके वे महावीर तीर्थंकर।।
का पावन उपदेश प्राप्त कर शीलपोत से।
संत भवोदधि तीर प्राप्त कर लेते सत्वर।।६१।।

भक्ति से नमस्कार करते हुए देवेन्द्र के मुकुट में जड़ित रत्नों की प्रभा से प्रकाशित हैं चरण-कमल जिनके; उन तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म-जरा-मृत्यु और पाप समूह का नाशक उपदेश प्राप्त कर, सत्शील रूपी जहाज द्वारा, संतगण संसार सागर से उस पार पहुँच जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**पर्याय में होनेवाला विकार मात्र एक समय की स्थितिवाला है, शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है।** भगवान का ऐसा उपदेश अपने में यथार्थ धारण करके सन्तजन शुद्धस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करते हैं और उस रत्नत्रयरूपी नौका द्वारा भवरूपी समुद्र को उल्लंघन कर मोक्षदशा को पाते हैं।[१]''

इस छन्द को हम मध्य मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं। इसमें शत इन्द्रों से पूजित भगवान महावीर के उपदेश से सत्शीलरूप जहाज के सहारे संतगण संसार समुद्र से पार होते हैं ह्न यह कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों की वाणी, जिनवाणी के माध्यम से तत्त्व समझकर, आत्मानुभूतिपूर्वक संयम धारण करके संसार से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है।।६१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८७

नियमसार गाथा ४३

विगत गाथा में चतुर्गति परिभ्रमण व जन्म-जरादि भावों से आत्मा को भिन्न बताकर अब इस गाथा में आत्मा का स्वरूप निर्दण्डादिरूप है ह्न यह समझाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णिद्दंडो णिद्वंद्वो णिम्ममओ णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।४३।।

(हरिगीत)

निर्दण्ड है निर्द्वन्द है यह निरालम्बी आतमा।
निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा।।४३।।

यह आत्मा निर्दण्ड है, निर्द्वन्द है, निर्मम है, निर्देह है, निरालंबी है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धात्मा के समस्त विभावों का अभाव है।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा निर्दण्ड है। निश्चयरूप से आत्मा में परमपदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व है।

प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से आत्मा निर्मम है। निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँचों शरीरों का आत्मा में अभाव होने से आत्मा निक्कल (नि:शरीर) है। निश्चय से परमात्मा को परद्रव्यों के अवलम्बन का अभाव होने से आत्मा निरालंब है।

आत्मा में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ह्न इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा नीराग है।

निश्चय से सम्पूर्ण पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ सहज परमवीतराग सुखसमुद्र में निमग्न प्रगट सहज अवस्थारूप सहजज्ञानशरीर के द्वारा पवित्र होने के कारण आत्मा निर्दोष है।

सहज निश्चयनय के बल से सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परमवीतरागसुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत निज परम-तत्त्व को जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ है अथवा शुद्धसद्भूत-व्यवहारनय के बल से सादि-अनंत अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववान तथा तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय जानने में समर्थ सम्पूर्णत: निर्मल केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से, केवलज्ञानस्वभावी होने से आत्मा निर्मूढ है।

और समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती ह्न ऐसे निज शुद्ध अन्त:तत्त्वरूप महादुर्ग में निवास करने से आत्मा निर्भय है।

ह्न ऐसा यह आत्मा ही वस्तुत: उपादेय है।''

इस गाथा और इसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाला विकाररूप दण्ड त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। राग-द्वेष का द्वैत शुद्धस्वभाव में नहीं है। शुद्धात्मा में ममता नहीं, शरीर नहीं, पर का अवलम्बन नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, मूढ़ता नहीं, भय नहीं है। पर्याय में होनेवाले दोष शुद्धस्वभाव में नहीं हैं ह्न ऐसा कहकर यहाँ स्वभावदृष्टि कराने का प्रयोजन है।[१]

आत्मा की एक समय की पर्याय में मन-वचन-काय के लक्ष से होनेवाले शुभाशुभ भाव दण्ड हैं और वे एक समय की अवस्थामात्र में हैं। भक्ति का भाव, उपवास का विकल्प, महाव्रत के परिणाम ह्न ये सभी दण्ड हैं। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव अशुभ राग हैं और दया, दान, पूजा आदि के भाव शुभराग हैं; दोनों ही दण्ड हैं। उस दण्ड के योग्य

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८९

द्रव्यकर्म और भावकर्म का एक समय की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।[१]

यदि इस कथन से कोई ऐसा समझ बैठें कि पर्याय में भी आत्मा निर्दण्ड है तो यह बात असत्य है। आत्मा पर्याय में भी निर्दण्ड हो तो फिर कुछ भी करने को नहीं रहा और ऐसी दशा में पर्याय में प्रकट आनन्द भी होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं है।

यहाँ तो पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिये और स्वभावबुद्धि कराने के लिये दण्ड का शुद्धभाव में अभाव बताया है।[२]

आत्मा शुद्ध चैतन्य एकरूप है, उसमें बाह्य अन्य चेतन और जड़ पदार्थों का तो अभाव है ही; साथ ही दया-दानादि विकल्पों का भी अभाव है। दूसरे जीव, अजीव पदार्थ, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व भी शुद्ध ध्रुवस्वभाव में नहीं हैं।[३]

कोई कहे कि आत्मा सर्वथा अद्वैत ही है और अन्य वस्तुयें हैं ही नहीं तथा पर्याय भी नहीं है तो यह बात सर्वथा खोटी है।[४]

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति लगन हो वह प्रशस्त मोह और राग है। भगवान के प्रति, सम्मेदशिखरजी, गिरनारजी आदि तीर्थों के प्रति राग हो, वह प्रशस्त राग है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के विरुद्ध कोई बोलता हो, उसके प्रति अल्प द्वेष हो जावे तो वह प्रशस्त द्वेष है।[५] स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के प्रति झुकाव होना अप्रशस्त मोह और राग है और जो अपने कुटुम्ब से विरुद्ध हो, उसके प्रति द्वेष होना वह अप्रशस्त द्वेष है।[६]

मोह-राग-द्वेष एक समय की अवस्था में हैं, उनकी रुचि ही संसार है। उन जितना ही आत्मा को मानना जैनदर्शन नहीं है; किन्तु मोह-राग-द्वेष आत्मा में नहीं है, आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मम है ह्न ऐसे शुद्ध चैतन्य का अवलम्बन लेना धर्म है और वही जैनदर्शन है।[७]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३८९-३९०
२. वही, पृष्ठ ३९०
३. वही, पृष्ठ ३९१
४. वही, पृष्ठ ३९१
५. वही, पृष्ठ ३९२
६. वही, पृष्ठ ३९२
७. वही, पृष्ठ ३९३

आत्मा को देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन तो नहीं, परन्तु दया-दानादि भावों का भी अवलम्बन नहीं है। आत्मा को अपने शुद्धस्वभाव का अवलम्बन है, किन्तु पर का अवलम्बन नहीं है; इसलिये वह निरालम्ब है। व्यवहारशास्त्रों में कदाचित् ऐसा कथन आवे कि सम्यग्दृष्टि को शुभभाव का तथा भगवान का अवलम्बन है, वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वह कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है।[१]

परपदार्थों का तो आत्मा में सदा ही अभाव है और पर्याय में होनेवाले संयोगी भावों का भी शुद्ध आत्मा में अभाव है ह्न ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होने पर पर्याय में भी संसार के अभाव का परिणमन होता जाता है और शुद्धदशा की प्राप्ति होती है।[२]

चौदह परिग्रह से रहित आत्मा नीराग है ह्न ऐसी दृष्टि धर्म का कारण है।[३]

आत्मा में अनेक धर्म है ह्न उनमें सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतराग सुख आदि हैं। वीर्य आदि गुण उसमें आ जाते हैं। निश्चयनय से उन अनन्त धर्मों का आधार निजपरमतत्त्व हैं। धर्म तो अनेक हैं, किन्तु धर्मी एक हैं।

यहाँ आत्मा का अर्थ है ह्न त्रिकाली शुद्धभाव। त्रिकाली शुद्धभाव अनन्त गुणों के अभेद निजपरमतत्त्व को जानने में समर्थ है अर्थात् जानने के स्वभाववाला है; इसलिये आत्मा मूढ़तारहित है। यहाँ वर्तमान पर्याय की बात नहीं है, त्रिकाल चैतन्यस्वभाव की बात है।[४]

यहाँ पाप का अर्थ विकार समझना, इसमें शुभ-अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं। शुभाशुभ भावों के असंख्य भेद हैं, वे सभी आत्मा की शुद्धता को रोकते हैं; अतः शत्रु हैं। **जहाँ तक आत्मा की निर्बलता शेष**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ३९४-३९५
२. वही, पृष्ठ ३९९
३. वही, पृष्ठ ४००
४. वही, पृष्ठ ४०१

है, वहाँ तक विकार का जोर है; परन्तु शुद्ध अन्तःतत्त्वरूपी ऐसा दुर्ग है कि जिसमें विकार की शूरवीर सेना प्रवेश नहीं कर सकती।[१]

यहाँ अन्तःतत्त्व का अर्थ अन्तरात्मा मत समझना; क्योंकि वह तो नवीन प्रगटती निर्मल पर्याय है। यहाँ अन्तःतत्त्व अर्थात् अनादि-अनन्त एकरूप रहता हुआ शुद्ध भाववाला कारणपरमात्मा है, जिसके द्रव्य-गुण-पर्याय एकरूप शुद्ध हैं।

इसप्रकार अन्तःतत्त्वरूप दुर्ग में बसता होने से आत्मा निर्भय है।[२]

इन नव बोलों द्वारा लक्षित आत्मा का लक्ष करने से धर्मदशा प्रगट होगी।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय अथवा परमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में मन-वचन-कायरूप दण्ड नहीं है; परपदार्थों और परभावों का अभाव होने से किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं है; औदारिकादि पाँच शरीर नहीं हैं; परद्रव्यों का आलम्बन नहीं है; चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह नहीं हैं; किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है; किसी भी प्रकार की मूढता और भय नहीं है; अतः वह निर्दण्ड है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, अदेह है, निरालम्बी है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।

ऐसा भगवान आत्मा ही उपादेय है। तात्पर्य यह है कि ऐसा **निज भगवान आत्मा ही अपनापन स्थापित करने योग्य है और इसी में समा जाना साक्षात् धर्म है।।४३।।**

इसके उपरान्त मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'अमृताशीति में भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर योगीन्द्रदेव कृत अमृताशीति ग्रन्थ का ५७वाँ छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४०३
२. वही, पृष्ठ ४०३-४०४
३. वही, पृष्ठ ४०४

(मालिनी)

स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम्।।२१।।[१]

(हरिगीत)

जो आतमा स्वरव्यंजनाक्षर-अंक के समुदाय से।
स्पर्श रस गंध रूप से अर अहित से अंधकार से।।
भूमि जल से अनल से अर अनिल की अणु राशि से।
दिगचक्र से भी रहित वह नित रहे शाश्वत भाव से।।२१।।

यह भगवान आत्मा स्वर समूह, विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों से रहित, संख्या से रहित और अहित से रहित शाश्वत तत्त्व है। अंधकार से रहित यह आत्मतत्त्व स्पर्श, रस, गंध और रूप से भी रहित है। इनके अलावा पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अणुओं से भी रहित है तथा स्थूल दिशाओं के समूह से भी रहित है।

तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा अकारादि स्वरों; क, ख आदि व्यंजनों तथा विसर्ग आदि सभी अक्षरों और एक, दो, तीन आदि संख्यारूप अंकों से रहित है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अंधकार और अहित से रहित यह अनुभूतिगम्य शाश्वत तत्त्व अक्षर और अंक विद्या से पकड़ में आने वाला नहीं है। तात्पर्य यह है कि भाषा की पकड़ से बाहर है।

स्पर्श, रस, रूप, गंध और पृथ्वी आदि पंचभूतों से रहित यह आत्मतत्त्व इन्द्रियों के माध्यम से भी नहीं जाना जा सकता।

इन्द्रियज्ञान और भाषा की पकड़ में न आनेवाला यह भगवान आत्मा तो एकमात्र अनुभूतिगम्य परमपदार्थ है।।२१।।

इसके उपरान्त मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथाहि'** लिखकर सात छन्द स्वयं प्रस्तुत करते हैं। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

१. अमृताशीति, श्लोक ५७

(मालिनी)

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः।।६२।।

(रोला)

परपरिणति से दूर और दुष्कर्म पार है।
अस्तमार दुर्वार पापवन का कुठार है॥
रक्षक हो मम रागोदधि का पूर पार जो।
सुखसागरजल निर्विकार है समयसार जो ॥६२॥

जो समयसार (शुद्धात्मा) दुष्ट पापोंरूप वन का छेदन-भेदन करने के लिए कुठार (कुल्हाड़ा) के समान है, दुष्कर्मों के पार को प्राप्त है, पर परिणति से दूर है, जिसने रागरूपी सागर के पूर (बाढ) को अस्त किया है, जिसने विविध विकारों को नष्ट कर दिया है, जो सच्चे सुखसागर का जल है और जिसने कामभाव को अस्त किया है; वह समयसार (शुद्धात्मा) मेरी रक्षा शीघ्र करे।

इस छन्द में समयसाररूप शुद्धात्मा की स्तुति करते हुए उससे रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है; क्योंकि **अनंतदुखों से रक्षा तो एकमात्र समयसाररूप आत्मा के आश्रय से ही होती है।।६२।।**

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत्।।६३।।

(रोला)

बुधजन जिनको कहें कल्पनामात्र रम्य है
उन सुख-दुख से रहित नित्य जो निर्विकार है।

विविध विकल्प विहीन पद्मप्रभ मुनिवर मन में
जो संस्थित वह परमतत्त्व जयवंत रहे नित॥६३॥

वह परमतत्त्व जयवंत वर्तता है; जो पद्मप्रभ मुनिराज के हृदयकमल में स्थित है, निर्विकार है, जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है और जो भव-भव के उन सुख-दुखों से मुक्त है; जिन सुख-दुखों को बुधपुरुषों ने कल्पनामात्र रम्य कहा है।

इस छन्द में उस समयसार (शुद्धात्मा) रूप परमतत्त्व के जयवंत वर्तने की बात कही गई है, भावना व्यक्त की गई है; जो विकल्पातीत है, सांसारिक सुख-दुःखों से रहित है और मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव के हृदय में विराजमान है; उनकी श्रद्धा का श्रद्धेय है और उनके ध्यान का एकमात्र ध्येय है।।६३।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः।।६४।।

(रोला)

सर्वतत्त्व में सार मगन जो निज परिणति में
सुखसागर में सदा खान जो गुण मणियों की।
उस आतम को भजो निरन्तर भव्यभाव से
भव्यभावना से प्रेरित हो भव्य आत्मन्॥६४॥

भव्यता से प्रेरित हे निकट भव्यात्माओं ! भव से मुक्त होने के लिए निरन्तर उस आत्मा को भजो; जो अनुपम ज्ञान के आधीन है, सहज गुणमणियों की खान है, सर्वतत्त्वों में सारभूत तत्त्व है और जो निज परिणति के सुखसागर में मग्न है।

इस छन्द में भी भव्यात्माओं को संसार सुखों से मुक्त होने के लिए

अनुपम ज्ञानाधीन सहजगुणोंरूपी मणियों की खान, सर्वतत्त्वों में सारभूत आत्मतत्त्व की आराधना करने की प्रेरणा दी गई है।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया।।६५।।

(दोहा)

भवभोगों से पराङ्गमुख भवदुखनाशन हेतु।
ध्रुव निज आतम को भजो अध्रुव से क्या हेतु।।६५।।

भव और भोगों से पराङ्गमुख हे यति ! यह ध्रुवपद संसार के कारणों का विनाश करनेवाला है। निजात्मा में मग्न होने की भावनावाले हे यतिगणो ! इस ध्रुवपद को ही भजो; अध्रुव वस्तुओं की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है ?

इस छन्द में संसार और सांसारिक भोगों से विरक्त सन्तों से यह कहा गया है कि इस दुखमय संसार के कारणों के अभाव का हेतुभूत त्रिकालीध्रुव आत्मतत्त्व की आराधना करो, अध्रुव विनाशशील वस्तुओं के चिन्तन से क्या प्रयोजन है ?।।६५।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये।।६६।।

(दोहा)

जन्म मृत्यु रोगादि से रहित अनाकुल आत्म।
अमृतमय अच्युत अमल मैं बंदूँ शुद्धात्म।।६६।।

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है; उस समयसाररूप शुद्धात्मा को मैं समताभाव से सदा पूजता हूँ।

यहाँ टीकाकार मुनिराज उत्तम पुरुष में बात करते हुए कह रहे हैं कि

मैं तो सदा समताभाव से समयसाररूप शुद्धात्मा की आराधना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मार्थी को निरन्तर निज भगवान आत्मा की आराधना करना चाहिए।।६६।।

छठवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(इन्द्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्वमुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्यस्तद्भावाम्युत्तमशर्मणेऽहम्।।६७।।

(दोहा)

सूत्रकार मुनिराज ने आतम दियो बताय।
उससे भवि मुक्ति लहें मैं पूजूँ मन लाय।।६७।।

इसप्रकार निज आत्मा को जाननेवाले सूत्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जिस निजात्मतत्त्व का निरूपण किया है और जिसे जानकर भव्यजीव मुक्ति की प्राप्ति करते हैं; उस निजात्मतत्त्व को उत्तमसुख की प्राप्ति हेतु मैं भाता हूँ।

इस छन्द में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव उत्तम पुरुष में ही बात करते हुए कह रहे हैं कि आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जाननेवाले आत्मानुभवी पूर्वाचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अपने आत्मा का जो स्वरूप बताया है; आत्मा के उस स्वरूप को जानकर भव्यजीव मुक्ति की प्राप्ति करते हैं; इसलिए मैं भी उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए उक्त निजात्मतत्त्व की भावना भाता हूँ।।६७।।

सातवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(वसन्ततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम्।।६८।।

(रोला)

ज्ञानरूप अक्षय विशाल निर्द्वन्द्व अनूपम
आदि-अन्त अर दोष रहित जो आत्मतत्त्व है।
उसको पाकर भव्य भवजनित भ्रम से छूटें
उसमें रमकर भव्य मुक्ति रमणी को पाते ।।६८।।

आदि-अन्त और दोषरहित जो अक्षय, विशाल, उत्तम, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व परमात्मतत्त्व है; जगत में जो भव्यजन उस परमात्मतत्त्व की भावनारूप परिणमित होते हैं; वे भव्यजन भवजनित दु:ख से दूर मुक्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि परमात्मतत्त्व की भावना से भव्यजन भवजनित दु:खों से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

इसलिए सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को परमात्मतत्त्व की भावना को भाना चाहिए।।६८।। ●

भाई ! जो व्यक्ति अपनी वाणी का सदुपयोग करता है, समाज उसका सन्मान करता है और जो दुरुपयोग करता है, उसकी उपेक्षा या अपमान। इसप्रकार सन्मान के लोभ से एवं उपेक्षा या अपमान के भय से हम बहुत-कुछ अपनी वाणी पर भी संयम रखते हैं; पर यदि मैं अभी यहीं बैठे-बैठे आप सबको मन में गालियाँ देने लगूँ तो मेरा क्या कर लेगा समाज और क्या कर लेगी सरकार ?

यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि न जहाँ सरकार का प्रवेश है और न जहाँ समाज की चलती है, धर्म का काम वहाँ से आरंभ होता है; अत: उन्होंने ठीक ही कहा है कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है ह्न यही जिनागम का सार है। **ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-७८**

नियमसार गाथा ४४

विगत गाथा में आत्मा को निर्दण्डादिरूप से निरूपित किया गया है और अब इस गाथा में उक्त आत्मा को निर्ग्रंथादि विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।४४।।

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ है नीराग है नि:शल्य है निर्दोष है।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है।।४४।।

यह आत्मा निर्ग्रन्थ है, नीराग है, नि:शल्य है, सर्व दोषों से रहित है, निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है और निर्मद है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारि-देव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इस गाथा में भी जीव के शुद्धस्वरूप का कथन किया गया है।

शुद्धजीव बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्यागस्वरूप (अभावस्वरूप) होने से **निर्ग्रन्थ** है; सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषात्मक चेतन कर्मों (भावकर्मों) के अभाव से **नीराग** है; माया, मिथ्यात्व और निदान ह्न इन शल्यों के अभाव से **नि:शल्य** है।

शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से शुद्धजीव **सर्वदोषविमुक्त** है।

शुद्धनिश्चयनय से उसे निजपरमतत्त्व की भी वांछा नहीं है; इसकारण वह शुद्ध जीव **निष्काम** है।

निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति के अभाव से **निष्क्रोध,** सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने से **निष्काम** और नि:शेषरूप से (पूर्णत:) अन्तर्मुख होने से **निर्मद** है।

उपर्युक्त विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्यनिरावरण, निजकारणसमयसार स्वरूप भगवान आत्मा उपादेय है।''

उक्त गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ जीव को शुद्धजीवास्तिकाय कहा है। असंख्यप्रदेशात्मक शुद्धजीव कहो, कारणपरमात्मा कहो, ध्रुवस्वभाव कहो ह्न सब एक ही हैं। जिस क्षेत्र में से अथवा जिसकी एकाग्रता से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है ह्न वह असंख्यप्रदेशी जीव है, उसमें परिग्रह नहीं है।

बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रह पहले अस्तित्व में थे और बाद में उन्हें त्यागा ह्न ऐसा यहाँ अर्थ नहीं है। परिग्रह का त्याग करना तो पर्याय में होता है। यहाँ पर्याय को गौण करके शुद्धजीव की बात चलती है।

धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह शुद्ध आत्मा में नहीं हैं। राग-द्वेषवाली पर्याय में वे पदार्थ निमित्तरूप से होते हैं; किन्तु यहाँ तो शुद्धस्वभाव की बात है। शुद्धस्वभाव में बाह्य परिग्रह के निमित्तपने का अभाव है।[१]

ऐसे परिग्रहरहित होने से शुद्धजीव निर्ग्रन्थ हैं। यहाँ निर्ग्रन्थ अर्थात् मुनिदशा ह्न ऐसा अर्थ नहीं हैं; किन्तु शुद्धजीव त्रिकाल निर्ग्रन्थस्वरूप है ह्न उसकी बात है। इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट होकर पर्याय में निर्ग्रन्थता प्राप्त होती है और शरीर में निर्ग्रन्थता ह्न नग्नदशा शरीर के कारण हो जाती है।[२]

परमशुद्धतत्त्व को ग्रहण करूँ ह्न ऐसा राग स्वभाव में नहीं है, यह बात निष्काम के प्रकरण में आई थी। और राग की वृत्ति को छोड़ूँ ह्न ऐसा द्वेष स्वभाव में नहीं है, यह बात निःक्रोध में आई है।

शुद्धस्वभाव निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से विकार का अभाव होकर जो एकाग्रता प्रकट होती है, वह व्यवहारनय का विषय है।[३]

अज्ञानी जीव चित्तनिरोध बाह्य से करना चाहते हैं; किन्तु बाह्यवस्तु से या शरीर की क्रिया से चित्त का निरोध नहीं होता है। मन तो जड़ है

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४१८
२. वही, पृष्ठ ४१८
३. वही, पृष्ठ ४२१

और उसके लक्ष से होने वाला राग विकार है ह्न इन दोनों का आत्मा में अभाव है। आत्मस्वभाव राग-द्वेषरहित है; इसप्रकार उसकी अस्ति के बल से राग का अभाव होने पर चित्त का निरोध हो जाता है।

अपना शुद्धात्मा निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से जो एकाग्रता की पर्याय प्रकट हुई, वह व्यवहारनय का विषय है।[१]

इसप्रकार उक्त कथनानुसार विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्य, समस्त आवरणों से रहित अपना कारणशुद्धात्मा ही एकमात्र अंगीकार करने योग्य है। पुण्य-पाप आदरणीय नहीं, शुद्धस्वरूप एक ही उपादेय है।

इसप्रकार अपने शुद्ध परमात्मा का आश्रय करे तो धर्मरूपी कार्य प्रकट हो। इसलिये वह एक ही उपादेय है।[२]''

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकभाव रूप भगवान आत्मा के निर्ग्रन्थादि जो भी विशेषण दिये गये हैं; वे सभी द्रव्यस्वभाव के हैं, पर्याय के नहीं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और क्रोधादि अंतरंग परिग्रह वर्तमान पर्याय में होने पर भी द्रव्यस्वभाव में नहीं है। **उक्त द्रव्यस्वभाव में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विकारी पर्यायों का पर्याय में भी अभाव हो जाता है।।४४।।**

इसके बाद **'तथा श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता छन्द)

इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव।।२२।।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४२१
२. वही, पृष्ठ ४२२
३. प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका, छन्द ८

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया॥
इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया॥
ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया॥
आपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया॥२२॥

परपरिणति के उच्छेद और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के नाश से जिसने शुद्धात्मतत्त्व उपलब्ध किया है; ऐसा वह आत्मा चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेज में लीन होता हुआ अपनी ही सहज महिमा में प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा परपदार्थों का अथवा परचैतन्य की अवस्थाओं का कर्ता तो है ही नहीं; क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं, वे स्वयं अपनी-अपनी अवस्था रूप प्रतिसमय परिणमन करते हैं। तथा आत्मा की अपनी ही पर्याय में जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उनका आत्मा कर्त्ता और वे विकार आत्मा के कार्य ह्न ऐसा कर्त्ता-कर्मपना भी शुद्धस्वभाव में नहीं है।

आत्मा त्रिकाल शुद्ध है ह्न ऐसे भान द्वारा जो वीतरागी पर्याय प्रकट होती है, उसका **कर्त्ता** आत्मा है और वह वीतरागी परिणाम उसका **कर्म** है। आत्मा के द्वारा वह वीतरागी परिणाम किया जाता है, इसलिये आत्मा **करण** है; स्वयं ही अपने को धर्मदशा प्रदान करता है, इसलिये आत्मा ही **सम्प्रदान** है; अपने में से ही निर्मलता उत्पन्न होती है, इसलिये स्वयं ही **अपादान** है; और अपने ही आधार से निर्मलता होती है, इसलिये स्वयं ही **अधिकरण** है।

इसप्रकार छह कारकों के भेद के लक्ष से धर्म होगा ह्न ऐसा मानना भी मिथ्याशल्य है।

अहो ! अत्यन्त सूक्ष्म बात की है। शरीर, मन, वाणी; देव, शास्त्र, गुरु के लक्ष से तो धर्म है ही नहीं, पुण्य-परिणाम से भी धर्म नहीं; परन्तु अभिन्न छह कारकों के भेदपूर्वक विचार करने से राग होता है, धर्म नहीं होता। **आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु अभेद है; तथापि उसे भेदवाला मानना और उनके आधार से धर्म मानना वह भ्रान्ति है।**[१]''

इसप्रकार इस छन्द में यह बताया गया है कि जिस आत्मा ने परपरिणति के उच्छेद और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रान्ति के नाश से शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है; वह आत्मा स्वयं में ही समा जायेगा और दु:खों से सदा ही मुक्त रहेगा, प्रकाशमान रहेगा।।२२।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता छन्द)

ज्ञानज्योति: प्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्त:।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम्।।६९।।

(मनहरण कवित्त)

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार का।
नाशक ध्रुव नित्य आनन्द का है धारक जो॥
अमूरतिक आतमा अत्यन्त अविचल।
स्वयं में ही उत्तम सुशील का है कारक जो॥
भवभयहरण पति मोक्षलक्ष्मी का अति।
ऐश्वर्यवान नित्य आतम विलासी जो॥
करता हूँ वंदना मैं आत्मदेव की सदा।
अलख अखण्ड पिण्ड चण्ड अविनाशी जो॥६९॥

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४२४

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार समूह का नाशक, नित्यानन्दादि अतुल महिमा का सदा धारक जो अमूर्तिक आत्मा स्वयं में अत्यन्त अविचलपने से उत्तमशील का मूल है; उस भवभय को हरनेवाले मोक्ष लक्ष्मी के ऐश्वर्यवान स्वामी निजकारणपरमात्मा को मैं वंदन करता हूँ।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निमित्त से अथवा पुण्य-पाप के विकार से तो धर्म होता नहीं, एक समय की शुद्ध पर्याय में से भी धर्म होता नहीं। **शुद्धोपयोग धर्म है और वह धर्म पर्याय में है; किन्तु शुद्धोपयोगरूप धर्म की पर्याय शुद्धोपयोगरूप पर्याय में से नहीं आती; वह तो त्रिकाल शुद्धभाव जो सदा एकरूप है, उसमें से प्रकट होती है।**[१]''

मध्य मंगलाचरण के रूप में समागत इस छन्द में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमात्मारूप निज भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है; क्योंकि अज्ञानरूप अंधकार का नाश अपने आत्मा में अपनापन लाने, उसी को निजरूप जानने और उसी में समा जाने से ही होता है।।६९।।●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १८

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दु:खों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दु:ख उठा रहा है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६

नियमसार गाथा ४५-४६

विगत गाथा में जिस शुद्धात्मा को निर्ग्रन्थादिरूप बताया गया था; अब इन गाथाओं में उसी शुद्धात्मा को वर्णादि से रहित अरस-अरूपादिरूप बताते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति।।४५।।
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४६।।

(हरिगीत)

स्पर्श रस गंध वर्ण एवं संहनन संस्थान भी।
नर, नारि एवं नपुंसक लिंग जीव के होते नहीं।।४५।।
चैतन्यगुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अर्निदिष्ट अशब्द है।।४६।।

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकदेव आदि पर्यायें तथा संस्थान और संहनन ह्न ये सब जीव के नहीं हैं।

इस जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला, अनिर्दिष्ट संस्थान और अलिंगग्रहण जानो।

इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभ-मलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ इन दो गाथाओं में ऐसा कहा है कि परमस्वभावभूत कारण-परमात्मा का स्वरूप समस्त पौद्गलिक विकार समूह से रहित है।

निश्चय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श और स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें तथा कुब्जादि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन पुद्गलों के ही हैं, जीवों के नहीं।

संसारदशा में स्थावर नामकर्मयुक्त संसारी जीवों के अर्थात् स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना होती है, त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीवों के

अर्थात् त्रस जीवों के कार्य सहित अर्थात् कर्मचेतना सहित कर्मफल-चेतना होती है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को सहजफल रूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।

इसलिए सहजशुद्धज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा संसारावस्था में या मुक्तावस्था में सर्वदा एक होने से उपादेय है ह्न ऐसा हे शिष्य तू जान !''

इन गाथाओं और उनकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''एक समय के विकार से रहित शुद्धभाव को कारणपरमात्मा कहते हैं।[१] केवली अथवा सिद्ध परमात्मा की यह बात नहीं है; किन्तु जिसके आधार से केवली अथवा सिद्ध कार्यपरमात्मा प्रगटे ह्न ऐसे कारणपरमात्मा रूप निज आत्मा की बात है।[२]

वास्तव में त्रिकाली आत्मा में लाल, पीले आदि वर्ण नहीं हैं। कोई कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि ध्यान में पीला दिखाई देता है, वह आत्मा का साक्षात्कार है; परन्तु वह भ्रम है। पीला तो रंग है, पुद्गल है, आत्मा में उसका अभाव है। आत्मा में खट्टा, मीठा आदि रस नहीं; कितने ही लोग सुधारस को आत्मा का रस कहते हैं, किन्तु भाई! वह तो जड़ का रस है, चैतन्यस्वभाव में वह रस नहीं है। शुद्ध आत्मा में सुगन्ध-दुर्गन्ध नहीं। स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि शरीर के आकार भी आत्मा में नहीं हैं। समचतुरस्त्र आदि संस्थान, वज्रर्षभनाराचादि संहनन आत्मा में नहीं ह्न यह सब पुद्गल के हैं।[३]

मूल गाथा में **'चेदणागुणम्'** शब्द है; उसमें से एकेन्द्रिय जीवों को कर्मफलचेतना है, त्रस जीवों को कार्यसहित कर्मफलचेतना है और कार्यपरमात्मा तथा कारणपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना है ह्न इसतरह तीन प्रकार का अर्थ टीका में किया है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४२८
२. वही, पृष्ठ ४२९
३. वही, पृष्ठ ४२९

एकेन्द्रिय-स्थावर जीव को कर्मफलचेतना है। कन्दमूलादि के जीव अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव का भान चूक गए हैं, अतः शुद्धस्वभाव का अनुभव न करके अकेले विकारी फल का अनुभव करते हैं। निगोद का जीव शरीर को तो अनुभवता नहीं, किन्तु पर को मैं भोगता हूँ ह्न ऐसी मिथ्या मान्यता का तथा विकार का अनुभव करता है। **एकेन्द्रिय जीव को विकार मैं करता हूँ ह्न ऐसा भाव गौण है। वे तो मुख्यपने दुःख का अनुभव कर रहे हैं अथवा दुःख भोग कर रहे हैं।**[१]

त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्यसहित कर्मफलचेतना होती है। दो इन्द्रिय से लगाकर पाँच इन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। उनमें कीड़ी, मकोड़ा, नारकी, देव, मनुष्यादि आ जाते हैं। वे जीव विकारी परिणाम के कार्य सहित हर्ष-शोक का अनुभव करते हैं।

इसप्रकार कर्मफलचेतना और कार्य सहित कर्मफलचेतना ह्न दोनों अधर्मफल और संसार हैं।[२]

कार्यपरमात्मा तथा कारणपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है ह्न ऐसे कारणपरमात्मा का आश्रय करके, उसमें विशेष स्थिरता करके अपने में केवलज्ञान, केवलदर्शनादि दशा प्रगट की, उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं।

कार्यपरमात्मा केवली और सिद्ध हैं।

ऊपर मिथ्यादृष्टि जीवों की बात करने के बाद, आत्मा का भान करके जो कार्य को अभी साध रहे हैं ह्न ऐसे साधकों की बात नहीं ली।

साधक को भी ज्ञानचेतना होती है, परन्तु आंशिक विकार और अपूर्णता है, अतः परिपूर्ण ज्ञानचेतना नहीं होती, इसलिये साधक की चर्चा यहाँ गौण की है। यहाँ तो जिन्होंने पूर्ण कार्यरूप ज्ञानचेतना प्रगट की है ह्न ऐसे केवली तथा सिद्धभगवान की बात ली है।[३]

कारणपरमात्मा अर्थात् शक्तिरूप शुद्धस्वभाव निगोद से लगाकर

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४२९-४३०
२. वही, पृष्ठ ४३०
३. वही, पृष्ठ ४३०-४३१

सिद्ध तक के जीवों में एकरूप पड़ा है। त्रिकाल एकरूप भगवान को कर्मचेतना नहीं, कर्मफलचेतना नहीं तथा अपूर्ण शुद्धज्ञानचेतना भी नहीं; किन्तु शुद्धज्ञानचेतना उत्पाद-व्यय रहित एकरूप सभी जीवों के होती है। **तुम्हें धर्म और आनन्द प्रगट करना है तो आत्मा में ज्ञान और आनन्द एकरूप पड़े हैं, उनका अवलम्बन लो।**[१]

उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव एकरूपपर्याय शुद्धज्ञानचेतना जो त्रिकाल पड़ी है ह्न उसकी बात चल रही है। उसके आधार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा अथवा कार्यशुद्धज्ञानचेतना प्रगट होती है। निगोद के जीव, मिथ्यादृष्टि जीव तथा अभव्य जीवों में भी कारणशुद्धज्ञानचेतना सदा पड़ी है; उसमें फेर-फार नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को इसका भान नहीं और वे कारण का आश्रय करते नहीं; अतः उनको कार्यरूप फल प्राप्त होता नहीं।[२]

त्रिकाल कारणपरमात्मा जो निगोद से लगाकर सिद्ध तक के सभी जीव हैं; उन सभी को सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।

कारणपरमात्मा को शुद्ध ज्ञानचेतना अनादि-अनन्त एकरूप हैं; अतः उसके फलस्वरूप आनन्ददशा भी त्रिकाल एकरूप है।[३]

केवली भगवान को तथा सिद्धों को सादि-अनन्तकाल रहनेवाली जो शुद्धज्ञानचेतना प्रगट हुई है; वह तो व्यवहारनय का विषय है। वह विषय जानने योग्य तो है, किन्तु अवलम्बन करने योग्य नहीं है। कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञानचेतना है और आनन्द फलरूप चेतना है। ये दोनों चेतना अनादि-अनन्त हैं तथा निगोद से लेकर सिद्धों तक समस्त जीवों के हैं।[४]

निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीव कारणपरमात्मा हैं, उनके शुद्धज्ञानचेतना अनादि-अनन्त हैं, उसमें कर्म के निमित्त की अथवा अशुद्धता की अपेक्षा नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि में यही उपदेश

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४३१
२. वही, पृष्ठ ४३१-४३२
३. वही, पृष्ठ ४३२
४. वही, पृष्ठ ४३४

आया है कि इस कारणपरमात्मा के आधार से सम्यग्दर्शन, चारित्र, शुक्लध्यान, मोक्षदशा तथा आनंददशा प्रगटती है।[१]

दृष्टि को दृष्टि आदरणीय नहीं; दृष्टि को शुक्लध्यान, केवलज्ञान अथवा सिद्धपद भी आदरणीय नहीं है; दृष्टि को तो सहजकारणपरमात्मा जो एकरूप है ह्न वही आदरणीय है।[२]''

उक्त दो गाथाओं में समागत दूसरी गाथा, वही बहुचर्चित गाथा है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के पंचपरमागमों में प्राप्त होती है। समयसार में ४९वीं, प्रवचनसार में १७२वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ में ६४वीं और इस नियमसार में ४६वीं गाथा के रूप में है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है। पद्मनन्दि-पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह उद्धृत की गई है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथा है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त और अशब्द पदों के छह-छह अर्थ करते हैं और अनिर्दिष्ट-संस्थान पद के चार अर्थ करते हैं; किन्तु उन्होंने अलिंगग्रहण पद का अर्थ सामान्य सा करके ही छोड़ दिया है। प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अलिंगग्रहण पद पर जोर दिया है, उसके २० अर्थ किये हैं।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ह्न इन तीनों ग्रंथों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा में जो टीकायें लिखीं, उनमें से किसी भी टीका में इस गाथा का अर्थ करते समय चेतनागुण के संबंध में विशेष विस्तार नहीं किया है; किन्तु यहाँ इस गाथा का अर्थ करते

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४३७
२. वही, पृष्ठ ४३८

समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का ध्यान इसी पद पर केन्द्रित हैं, शेष पदों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इसके पूर्व की गाथा के अर्थ में ही इस गाथा के अरसादि विशेषणों को समाहित कर लिया है; क्योंकि उक्त गाथा में भी तो यही कहा है कि आत्मा में रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है और इसमें भी यही कहा जा रहा है कि आत्मा अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श है।

इसीप्रकार अन्य विशेषणों के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए।

चेतनागुण विशेषण के संदर्भ में यहाँ चेतना के भेद कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना की चर्चा विस्तार से की है।

कहा गया है कि स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि सहज पुण्य-पाप के योग से उन्हें जो भी संयोग प्राप्त होते हैं, संयोगी भाव अर्थात् मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; वे तो उन्हें ही भोगते रहते हैं, उनका ही वेदन करते रहते हैं।

त्रस जीवों के कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना की प्रधानता होती है; क्योंकि पर में एकत्व-ममत्व होने से वे उनमें कुछ न कुछ करने और उन्हें भोगने के भावों में उलझे रहते हैं।

टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। यह तो स्पष्ट है ही कि कारणपरमात्मा तो उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को कहते हैं कि जो निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीवों के सदा विद्यमान है। यही कारण है कि वह शुद्धज्ञानचेतना सभी जीवों में विद्यमान है और सभी को परम उपादेय है; क्योंकि उसके आश्रय से ही यह संसारी आत्मा सिद्ध बनता है।

उक्त कारणपरमात्मा के आश्रय से जो अरहंत-सिद्धरूप परमात्म दशा प्रगट होती है; उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की मुख्यतावाले अज्ञानी जीवों और शुद्धज्ञानचेतनावाले अरहंत-सिद्धरूप

पूर्ण ज्ञानियों की चर्चा तो की; किन्तु **साधकदशा में विद्यमान जीवों की बात नहीं की।**

इसके संदर्भ में विशेष स्पष्टीकरण स्वामीजी के उद्धरण में आ गया है। अत: यहाँ कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।।४५-४६।।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसके बाद **'तथा एकत्वसप्तति में भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृति: साऽपि भिन्न तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यतच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत्।।२३।।[१]

(रोला)

जड़ कर्मों से भिन्न आतमा होता है ज्यों।
भावकर्म से भिन्न आतमा होता है त्यों।।
सभी स्वयं के गुण-पर्यायों से अभिन्न हैं।
परद्रव्यों से भिन्न सदा सब ही होते हैं।।२३।।

आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि मेरा मत (मन्तव्य) ऐसा है कि जिसप्रकार आत्मा भिन्न है और उसका अनुगमन करनेवाला कर्म भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा और कर्म की अति निकटता से जो विकार होता है, वह भी आत्मा से भिन्न ही है तथा काल-क्षेत्रादिक जो भी हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न हैं। अपनी-अपनी गुण कला से अलंकृत ये सभी भिन्न-भिन्न ही हैं। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न सभी द्रव्य परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं।

स्वामीजी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे आत्मा और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही आत्मा और विकार भी भिन्न-भिन्न हैं ह्न ऐसा कहकर **विकार पर से दृष्टि हटाई है और शुद्ध**

१. आचार्य पद्मनन्दी कृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति नामक अधिकार का ७९वाँ छंद

चैतन्य की दृष्टि कराई है। विकार, कर्म और निमित्त की रुचि मत कर, किन्तु त्रिकाली स्वभाव की रुचि कर ह्न ऐसा कहने का आशय है।[१]''

इसप्रकार एकत्वसप्तति के इस छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही कहा गया है कि सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न और परद्रव्य और उनके गुण-पर्यायों से पूर्णत: भिन्न हैं। यह तो ठीक; किन्तु कर्मोदय के निमित्तपूर्वक होनेवाले मोह-राग-द्वेषादि भावों से भी यह आत्मा भिन्न ही है। **अत: आत्मार्थी भाई-बहिनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे परपदार्थों में संलग्न उपयोग को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा में लगावें॥२३॥**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम्।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्भव्य जानीहि नित्यम्॥७०॥

(रोला)

अरे बंध हो अथवा न हो शुद्धजीव तो।
सदा भिन्न ही विविध मूर्त द्रव्यों से जानो॥
बुधपुरुषों से कहे हुए जिनदेव वचन इस।
परमसत्य को भव्य आतमा तुम पहिचानो॥७०॥

बंध हो या न हो अर्थात् चाहे बंधावस्था हो, चाहे मोक्षावस्था हो ह्न दोनों ही अवस्थाओं में अनेकप्रकार के मूर्त पदार्थों के समूह शुद्धजीव के रूप से अत्यन्त भिन्न हैं। बुधपुरुषों से कहा हुआ जिनदेव का ऐसा शुद्धवचन है। जगप्रसिद्ध इस परमसत्य को हे भव्य तू सदा जान।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४३९

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''संसारदशा के समय बन्ध का निमित्त पुद्गल कर्म हो अथवा मोक्षदशा के समय कर्म का अभाव निमित्त हो; परन्तु समस्त विचित्र मूर्त्तकर्मों का समूह शुद्धजीव के रूप से जुदा है। कर्म भले ही आत्मा के साथ एक क्षेत्र में हों; किन्तु आत्मा उस समय भी उससे त्रिकाल भिन्न है।[१]

एक समय के विकार को गौण कर दिया जाय तो संसार में रहनेवाले सभी आत्मा अशरीरी सिद्ध सदृश शुद्ध ही हैं।[२]

आत्मा में आनन्दशक्ति भरी है ह्न यह प्रथम निश्चय करे। एक समय के विकार को गौण करे तो ज्ञान और आनन्द से यह आत्मा भरपूर है ह्न ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो, पश्चात् उसमें एकाग्रता करें तो शक्ति में से आनन्द आदि पर्यायें प्रगट हों और आनन्द अनुभव में आवे।

इसलिये आत्मा परपदार्थ से जुदा है, किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है तथा राग-द्वेष भी मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप अनन्तज्ञान-दर्शनादि ही है, मेरा स्वभाव स्व-परप्रकाशक है; जगत के पदार्थों को, मेरे में रहने वाली अपूर्णता को, तथा राग को जानने का उसका स्वभाव है ह्न ऐसा प्रथम निर्णय करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो और एकाग्रता करने पर चारित्र प्रगट होकर केवलज्ञान हो और फिर उस केवलज्ञान का कभी नाश न हो।[३]''

इस छन्द में मात्र यही कहा गया है कि हे भव्यजीवो ! जिनदेव द्वारा कहे गये इस जगप्रसिद्ध परमसत्य को जानो, पहिचानो कि हर हालत में यह शुद्ध आत्मा अनेकप्रकार के समस्त परद्रव्यों से भिन्न है। ऐसे ज्ञान-श्रद्धान से, आचरण से अनंत अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है॥७०॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४४०
२. वही, पृष्ठ ४४१
३. वही, पृष्ठ ४४२

नियमसार गाथा ४७

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि आत्मा में वर्णादि भाव नहीं हैं, वह अरस-अरूपादि भावों से संयुक्त चेतनागुणवाला है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि **शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कुछ भी अन्तर नहीं है।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।४७।।

(हरिगीत)

गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं।
हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी कहे।।४७।।

जैसे सिद्ध जीव जन्म, मरण और जरा से मुक्त तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं; वैसे ही तुम भवलीन संसारी जीवों को जानो।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन शुद्धद्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीव और मुक्त जीवों में अन्तर न होने का है।

जो कोई अत्यासन्न भव्यजीव; पहले संसारावस्था में संसारक्लेश से थके चित्तवाले होते हुए सहज वैराग्यपरायण होने से द्रव्यलिंग और भावलिंग को धारण करके, परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके, अव्याबाध सकल विमल केवल-ज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य युक्त सिद्ध हो गये हैं; वे सिद्धात्मा कार्यसमयसाररूप हैं, कार्यसिद्ध हैं।

जिसप्रकार वे सिद्ध भगवान शुद्ध हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय से संसारी जीव भी शुद्ध हैं। जिसकारण से अर्थात् जिस अपेक्षा से वे संसारी जीव सिद्धसमान हैं; उसीकारण से अर्थात् उसी अपेक्षा से वे

संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित हैं और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे परमानन्द दशा को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं, वैसे संसारी जीव शक्तिरूप से हैं। अशरीरी सिद्धदशा प्रगट करने की शक्ति प्रत्येक जीव में है। **इस गाथा में एक समय की पर्यायबुद्धि छुड़ाई है।** वस्तुदृष्टि से देखा जाय तो संसारी जीव भी जन्म-जरा-मरण से रहित हैं तथा अष्ट गुणों से अलंकृत हैं। इसकी प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होकर सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।[१]

भगवान की वाणी में ऐसा कहा गया था कि अपनी पर्याय को शुद्ध स्वभाव में लगा तो स्थिरता से शुक्लध्यान प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होगा। इसप्रकार गुरु की वाणी का कहने का आशय स्वयं समझ लिया और अपनी श्रुतज्ञान की पर्याय को स्वभाव में एकाकार किया।[२]

संसारी की विकारी पर्याय है तथा सिद्ध की व्यक्त मोक्षपर्याय है। यदि इन पर्यायों को गौण करके देखा जाय तो संसारी जीव भी सिद्धसदृश हैं, शुद्धनिश्चयनय से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।[३]

शुद्धनिश्चयनय से विकार को गौण करके संसारी जीव को सिद्ध समान कहा था; उसी दृष्टि से देखा जाय तो संसारी जीव जन्मता नहीं, मरता नहीं और उसको बुढ़ापा भी नहीं, तथा उसी दृष्टि से वह सम्यक्त्वादि आठ गुणों की समृद्धि से आनन्दमय हैं। परवस्तु का आत्मा में त्रिकाल अभाव है, एक समय मात्र के विकार को, अपूर्ण पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहकर त्रिकाली भूतार्थ शुद्धस्वभाव में उसका अभाव बताया है ह्न द्रव्यदृष्टि कराई है।[४]

जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसे ही संसारी जीव शक्तिरूप से हैं।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४४४
२. वही, पृष्ठ ४४६
३. वही, पृष्ठ ४४७
४. वही, पृष्ठ ४४८

संसारदशा में होने वाला विकार एक समय का है, दो समय का विकार कभी एकत्र नहीं होता। विकार को मुख्य करे तो स्वभाव का अनादर हो जाता है और **त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करे, एक समय के विकार को गौण करे तो धर्मदशा प्रगट होती है।**[१]''

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि सभी जीवों के द्रव्यस्वभाव में तो कोई अन्तर है ही नहीं और वर्तमान पर्यायों में जो अन्तर है, यह नय उन पर्यायों को ग्रहण नहीं करता। अत: परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से संसारी और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है ह्न यह बताया गया है।।४७।।

टीकाकार मुनिराज इस गाथा की टीका के अन्त में एक छन्द लिख रहे हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुप्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम्।।७१।।

(दोहा)

पहले से ही शुद्धता जिनमें पाई जाय।
उन सुधिजन कुधिजनों में कुछ भी अंतर नाय।।
किस नय से अन्तर करूँ उनमें समझ न आय।
मैं पूँछूँ इस जगत से देवे कोई बताय।।७१।।

जिन सुबुद्धियों को तथा कुबुद्धियों को पहले से ही शुद्धता विद्यमान है तो मैं उन सुबुद्धियों और कुबुद्धियों में अन्तर किस नय से जानूँ?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सुबुद्धि की एक समय की सम्यक्त्व पर्याय को तथा कुबुद्धि की एक समय की मिथ्यात्व पर्याय को गौण करके देखा जावे तो दोनों के स्वभाव में कोई भेद नहीं है; एकरूप शुद्धभाव पड़ा है।[२]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४४९
२. वही, पृष्ठ ४५०

अतः दोनों ही पर्यायों का लक्ष छोड़कर निगोद और सिद्ध में एकरूप शुद्धभाव पड़ा है, उसके ऊपर दृष्टि कर। शुद्ध कारणस्वभावभाव ही धर्म का कारण है।[१]''

उक्त छन्द में भाषा तो ऐसी है कि जैसे टीकाकार मुनिराज श्री को उस नय का पता नहीं है कि जिस नय से सुबुद्धि और कुबुद्धियों में महान अन्तर है; पर बात ऐसी नहीं है।

ऐसा कहकर वे यह कहना चाहते हैं कि जब परमशुद्धनिश्चयनय की स्वभावदृष्टि ही परमार्थ है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्ष की उत्कृष्टतम साधक है तो मैं व्यवहारनयाश्रित पर्यायदृष्टि से क्यों देखूँ, पर्यायदृष्टि को मुख्य क्यों करूँ ?

तात्पर्य यह है कि यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी है तो सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को परमशुद्धनिश्चयनय की इस स्वभावग्राही परमार्थदृष्टि को ही मुख्य करना चाहिए।।७१।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४५०

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं; क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है, परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों ह्न यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट लेने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का विस्तार वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है। **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१७८**

नियमसार गाथा ४८

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि द्रव्यदृष्टि से संसारी और सिद्ध जीवों में कोई अन्तर नहीं है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि कार्यसमयसार और कारणसमयसार में कोई अन्तर नहीं है।

गाथा मूलत: इसप्रकार हैह्न

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।४८।।

(हरिगीत)

शुद्ध अविनाशी अतीन्द्रिय अदेह निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे जीव हैं भवलीन त्यों।।४८।।

जिसप्रकार लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवान अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं; उसीप्रकार सभी संसारी जीवों को जानो।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कार्यसमयसार और कारणसमयसार में कोई अन्तर न होने का कथन है।

जिसप्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवान निश्चय से पाँच शरीरों के प्रपंच के अभाव के कारण **अशरीरी** हैं, नर-नारकादि पर्यायों के त्याग-ग्रहण के अभाव के कारण **अविनाशी** हैं, परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शन-ज्ञानरूप कारणशुद्धस्वरूप को युगपद जानने में समर्थ सहजज्ञानज्योति के द्वारा जिसमें से समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं ह्न ऐसे स्वरूपवाले होने के कारण **अतीन्द्रिय** हैं, मलजनक क्षायोपशमिक विभावस्वभाव के अभाव के कारण **निर्मल** और द्रव्य-भावकर्मों के अभाव के कारण **विशुद्धात्मा** हैं; उसीप्रकार संसारी जीव भी किसी नय के बल से शुद्ध हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव

इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पर्याय को गौण करके देखने पर कारणसमयसार और कार्य-समयसार में कोई अन्तर नहीं है।[१]

संसारदशा में संसारी जीवों को राग के साथ तथा जिसको जैसा शरीर है, उसके साथ मात्र एक समय का सम्बन्ध है।[२]

उस एक समय की पर्याय को गौण करके देखा जावे तो संसारी भी अशरीरी ही हैं। शरीर के सम्बन्ध को मुख्य करने पर चैतन्य गौण हो जाता है और वही संसार है।[३] चैतन्य को मुख्य करके शरीर-सम्बन्ध को गौण करना ही धर्म है।[४]

सिद्धभगवन्तों ने अशरीरीदशा-मोक्षदशा प्राप्त कर ली है, इसलिए उनके नर-नारकादि भवरूप पर्यायों का त्याग-ग्रहण होता नहीं; जबकि संसार में एक भव के बाद दूसरा भव ह्न इसप्रकार विनाशरूप अवस्था पर्याय में होती है। जिसप्रकार सिद्धों में ऐसा विनाशपना पर्याय में नहीं होता, शरीर का आवागमन नहीं होता, इसलिये वे अविनाशी हैं; उसीप्रकार शुद्धद्रव्यार्थिकनय से देखा जावे तो संसारी जीव भी अविनाशी हैं ह्न ऐसा बताना है।[५]

अल्पज्ञता की एक समय की पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है तथा अनन्त ज्ञान-दर्शन से भरपूर स्वभाव को भूतार्थ कहकर संसारी आत्मा को भी शुद्धनिश्चयनय से अतीन्द्रिय कहा है।[६]

सिद्धभगवंतों के क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव तथा औपशमिक भाव का अभाव है, उनके क्षायिकभाव प्रकट हो गया है, अत: जिसप्रकार वे निर्मल हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चयदृष्टि से देखा जावे तो संसारी भी निर्मल हैं।[७]

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४५२
२. वही, पृष्ठ ४५२
३. वही, पृष्ठ ४५३
४. वही, पृष्ठ ४५३
५. वही, पृष्ठ ४५३-४५४
६. वही, पृष्ठ ४५५
७. वही, पृष्ठ ४५६

जिसप्रकार सिद्धजीवों के समस्त विकार तथा समस्त जड़कर्मों का अभाव है; इसलिए वे विशुद्धात्मा हैं; उसीतरह संसारी जीव को एक समय जितना विकार है, उसका निमित्त जड़कर्म है, बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु निमित्त हैं, और पर्याय में क्षयोपशमभाव है; परन्तु उनमें से किसी से भी आत्मा को लाभ नहीं है; अतः उन सबको गौण करके, व्यवहार कहकर, अभूतार्थ कहा है, कारण कि त्रिकाली शुद्धस्वभाव में उन सब का अभाव है; तथा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से संसारी जीव भी विशुद्धात्मा ही हैं ह्न ऐसा स्वीकार करने पर पर्याय में धर्मदशा प्रकट होती है।

शुद्धदृष्टि से देखा जावे तो सिद्ध और संसारी में कोई अन्तर नहीं है ह्न ऐसा ४८वीं गाथा में कहा।[१]''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान पाँच शरीरों से रहित होने के कारण **अशरीरी,** नर-नारकादि पर्यायों के ग्रहण-त्याग से रहित होने के कारण **अविनाशी,** संशयरहित प्रत्यक्षज्ञान के धारी होने से **अतीन्द्रिय,** विभावस्वभाव के अभाव के कारण **निर्मल** और द्रव्य-भावकर्म के अभाव के कारण **विशुद्धात्मा** हैं; उसीप्रकार संसारी जीव भी परमशुद्धनिश्चयनय से शुद्ध ही हैं।।४८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्।।७२।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४५७-४५८

(हरिगीत)

शुद्ध है यह आतमा अथवा अशुद्ध इसे कहें।
अज्ञानि मिथ्यादृष्टि के ऐसे विकल्प सदा रहें।।
कार्य-कारण शुद्ध सारासारग्राही बुद्धि से।
जानते सद्दृष्टि उनकी वंदना हम नित करें।।७२।।

मिथ्यादृष्टियों को आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध है ह्न इसप्रकार की विपरीत कल्पनायें निरन्तर हुआ करती हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसा निश्चय होता है कि कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व ह्न दोनों शुद्ध हैं।

इसप्रकार परमागम के अनुपम अर्थ को जो सम्यग्दृष्टि जीव सारासार की विचार वाली बुद्धि से स्वयं को जानता है; हम सब उसकी वंदना करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''धर्मीजीव को ऐसी प्रतीति है कि जिसको कार्य प्रकट हो गया है, वह कार्यपरमात्मा और जो अनादि-अनन्त मेरे में पड़ा है, वह कारण-परमात्मा ह्न इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही शुद्ध हैं।

पर्याय में शुभाशुभभाव होने पर भी मेरा स्वभाव कभी विकारी हुआ ही नहीं ह्न वह तो सदा शुद्ध ही है।[१]

इसप्रकार भगवान की वाणी से रचित परमागम के गंभीर अर्थ को सारासार के विचारवाली सुन्दरबुद्धि से जो सम्यग्दृष्टि मुनि स्वयं को जानते हैं; उन मुनिराजों को हम वन्दन करते हैं।[२]''

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव अपेक्षाओं को न समझने के कारण आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध ह्न इसप्रकार के विकल्पों में उलझे रहते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों को स्याद्वाद में प्रवीणता होने से वे जानते हैं कि कारणसमयसार (त्रिकाली ध्रुव आत्मा) और कार्यसमयसार (अरहंत-सिद्ध भगवान) ह्न दोनों ही शुद्ध हैं। इसप्रकार सार और असार को जानने की बुद्धि के धनी ज्ञानियों की हम वंदना करते हैं।।७२।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४५९ २. वही, पृष्ठ ४५९-४६०

नियमसार गाथा ४९

विगत गाथा में सिद्धों के समान संसारी जीव भी स्वभाव से शुद्ध ही हैं ह्न यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में उक्त तथ्य को निश्चय-व्यवहारनय की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार हैह्न

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पहुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।४९।।

(हरिगीत)

व्यवहारनय से कहे हैं ये भाव सब इस जीव के।
पर शुद्धनय से सिद्धसम हैं जीव संसारी सभी।।४९।।

उक्त सभी भाव व्यवहारनय से संसारी जीवों में कहे गये हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से तो संसार में रहनेवाले सभी जीव सिद्धस्वभावी ही हैं, सिद्धों के समान ही हैं।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह कथन निश्चय-व्यवहारनयों की उपादेयता का प्रकाशन करनेवाला है।

पहले जिन विभाव पर्यायों के बारे में ऐसा कहा गया था कि वे विद्यमान नहीं हैं; वे सब विभावपर्यायें व्यवहारनय की अपेक्षा से देखें तो विद्यमान ही हैं। इसीप्रकार जिन औदयिकादि विभावभाववाले जीवों को व्यवहारनय से संसारी कहा गया था; वे सभी संसारी शुद्धनय से शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायवाले होने से सिद्धों के समान ही हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''प्रमाणभूतज्ञान में शुद्धात्मद्रव्य तथा उसकी पर्यायों का (दोनों का) सम्यक्ज्ञान होना चाहिए। अपने में कथंचित् विभाव पर्यायें विद्यमान हैं ह्न ऐसा स्वीकार ही जिसे न हो, उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान

नहीं हो सकता। आत्मा द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है ह्न यह बात ठीक है; फिर भी एक समय का राग पर्याय में बिलकुल है ही नहीं अथवा पर्याय में भी पूर्णता वर्त्त रही है ह्न ऐसा माने तो पर्याय का सच्चा ज्ञान भी नहीं है; और ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण द्रव्य का प्रमाणज्ञान होता नहीं। स्वभावदृष्टि से कहा जाता है कि वस्तुस्वभाव में त्याग-अत्याग है ही नहीं; परन्तु इस कथन से ऐसा मान बैठे कि पर्याय में भी मुनिपना या वीतरागीपना है तो भ्रम है।[१]

जो जीव पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं करते, उनका आत्मा का ज्ञान भी यथार्थ नहीं। इसलिये व्यवहारनय के विषयों का भी ज्ञान तो ग्रहण करने योग्य हैं ह्न ऐसी विवक्षा से ही व्यवहारनय को उपादेय कहा है।[२]

(१) त्रिकालीदृष्टि से संसारी जीव को अशरीरी कहा था, वही जीव व्यवहारनय से शरीर के सम्बन्ध वाला है।

(२) त्रिकालीदृष्टि से संसारी जीव को अविनाशी कहा था, वही जीव व्यवहारनय से विनाशीक है। नर-नारकादि पर्यायों का ग्रहण-त्याग उसके होता है।

(३) स्वभावदृष्टि से संसारी जीव को अतीन्द्रिय कहा था, वही जीव व्यवहारनय से शरीर वाला है और ज्ञान में इन्द्रियों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वाला है।

(४) स्वभावदृष्टि से संसारी जीव को निर्मल कहा था, वही जीव व्यवहारनय से क्षयोपशमादि विभावभाव के कारण मैल वाला है।

(५) स्वभावदृष्टि से संसारी जीव को विशुद्धात्मा कहा था, वही जीव व्यवहारनय से अशुद्ध है, राग-द्वेषरूपी भावकर्मों को निमित्तरूप से द्रव्यकर्मों के सम्बन्ध वाला है।[३]

वे सभी विकार के भेद पर्याय में पड़ते हैं, शुद्धदृष्टि से देखा जावे तो

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४६२
२. वही, पृष्ठ ४६२
३. वही, पृष्ठ ४६३-४६४

अभव्य सहित सभी जीव सिद्ध समान शुद्ध ही हैं। सम्यग्दर्शन का ध्येय त्रिकाली अखण्ड शुद्धात्मा है।[१]

जैसे तिल में तेल शक्तिरूप से है ह्न ऐसा भान न करे, तो तिल पैरने का भाव ही नहीं आ सकता; तथा तिल में तेल शक्तिरूप से है ह्न ऐसा कहा हो, वहाँ पर्याय में भी तेल है ह्न ऐसा मानकर पूड़ी सेकने लगे तो निराशा ही होगी। वैसे ही आत्मा स्वभाव से शुद्ध है ह्न ऐसा विचार न करें तो शुद्ध के लक्ष बिना अशुद्धता टले नहीं; और शक्ति से शुद्ध कहा; इसलिए पर्याय में भी शुद्धता है ह्न ऐसा मान ले तो भी भूल है।[२]

इस गाथा में व्यवहारनय से ज्ञान कराकर पीछे से कहा कि वे सब विभाव विद्यमान होने पर भी शुद्धदृष्टि से सब जीव सिद्ध सदृश हैं। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान करके निश्चयस्वभाव का आश्रय करना ही धर्म का कारण है।[३]''

इस गाथा और उसकी टीका में यही बात स्पष्ट की गई है कि यद्यपि द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप समझने के लिए व्यवहारनय की उपयोगिता है; क्योंकि व्यवहारनय का विषय भी लोक में विद्यमान है; तथापि व्यवहारनय के विषयभूत पक्ष के आश्रय से धर्म प्रगट नहीं होता, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती। अत: उसके विषय को भलीभांति जानकर, उसमें से अपनापन तोड़कर, परमशुद्ध-निश्चयनय के विषयभूत अपने आत्मा में ही अपनापन स्थापित करना चाहिए।।४९।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४६५
२. वही, पृष्ठ ४६६
३. वही, पृष्ठ ४६६

(मालिनी)

व्यवहरणनय: स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंब:।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंत: पश्यतां नैष किंचित्।।२४।।[१]

(रोला)

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में।।
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में।।२४।।

यद्यपि खेद है कि जिन्होंने पहली पदवी में पैर रखा है, उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, हाथ का सहारा है; तथापि जो परद्रव्यों और उनके भावों से रहित, चैतन्यचमत्कारमात्र परम-अर्थ को अन्तर में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसमें लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने में लाठी का सहारा लेना पड़ता है; पर उसकी भावना तो यही रहती है कि कब इस लाठी का आश्रय छूटे। वह यह नहीं चाहता कि मुझे सदा ही यह सहारा लेना पड़े।

उसीप्रकार निचली दशा में व्यवहार का सहारा लेते हुए भी कोई आत्मार्थी यह नहीं चाहता कि उसे सदा ही यह सहारा लेना पड़े। वह तो यही चाहता है कि कब इसका आश्रय छूटे और कब मैं अपने में समा जाऊँ। बस यही भाव उक्त छन्द में व्यक्त किया गया है।।२४।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(स्वागता)

शुद्धनिश्चययेन विमुक्तौ संसृतावपि च नास्ति विशेष:।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे शुद्धतत्त्वरसिका: प्रवदन्ति।।७३।।

१. समयसार कलश ५

(सोरठा)

अन्तर नहिं है रंच, संसारी अर सिद्ध में।
बतलाते यह मर्म, शुद्धतत्त्व के रसिकजन ।।७३।।

शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं है। शुद्धतत्त्व के रसिकजन शुद्धतत्त्व की मीमांसा करते हुए ऐसा ही कहते हैं।

उक्त छन्द में यही कहा गया है कि शुद्धतत्त्व के रसिकजनों की दृष्टि शुद्धनयप्रधान होती है। अत: वे तो शुद्धतत्त्व की प्राप्ति की प्रेरणा देते हुए यही कहते हैं कि संसारी और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है।।७३।। ●

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

ह्न तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

नियमसार गाथा ५०

विगत गाथा में कहा गया है कि पूर्वोक्त वर्णादि सभी भाव यद्यपि व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं; तथापि शुद्धनय से संसार में रहनेवाले सभी जीव सिद्धों के समान स्वभाववाले ही हैं और अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि **पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव होने से परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं और अन्त:तत्त्वरूप स्वद्रव्य उपादेय हैं।**

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।५०।।

(हरिगीत)

हैं हेय ये परभाव सब ही क्योंकि ये परद्रव्य हैं।
आदेय अन्तस्तत्त्व आतम क्योंकि वह स्वद्रव्य है।।५०।।

पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं तथा अन्त:तत्त्वरूप आत्मा स्वद्रव्य है; अत: उपादेय है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह हेयोपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है। पहले ४९वीं गाथा में जिन विभाव गुणपर्यायों को व्यवहारनय से उपादेय कहा था; वे सभी विभावगुणपर्यायें शुद्धनिश्चयनय से हेय हैं; क्योंकि वे पर-स्वभाव हैं; इसलिए परद्रव्य हैं। तथा सभी प्रकार की विभावगुणपर्यायों से रहित शुद्ध अन्त:तत्त्वरूप अपना आत्मा स्वद्रव्य होने से उपादेय है।

वस्तुत: बात यह है कि सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्त:तत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य का आधार सहजपरमभावलक्षणवाला कारणसमयसार है।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''समयसार गाथा ११ में कहा है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ (शुद्धनय) का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है। यहाँ भी यही कहना है कि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव सामान्य है और उदयादि चार भाव विशेष हैं। **विशेष के अवलम्बन से लाभ नहीं; इसलिए विशेष को परद्रव्य कहकर सामान्य एकरूप स्वभाव के आश्रय से लाभ है ह्न ऐसा कहा है।** जो जीव व्यवहार में रुचि रखते हैं ह्न उनसे कहा है कि उसके आश्रय से लाभ नहीं है, शुद्ध के आश्रय से लाभ है।

पैसा, कुटुम्बादि परद्रव्य हैं, देव-गुरु-शास्त्र भी परद्रव्य हैं और यहाँ अपनी एक समय की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है, कारण कि उसका आश्रय लेने से मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। एक चैतन्यस्वभाव अन्तःतत्त्व ही स्वद्रव्य है।

किसी की भक्ति या कृपा से धर्म हो अथवा राग और पुण्य के आश्रय से धर्म हो ह्न ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तेरी पर्याय की कृपा से या उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता। **पर्यायवान द्रव्यस्वभाव की कृपा से ह्न उस एक की ही कृपा से धर्म होता है।**[१]

यहाँ कोई प्रश्न करे कि क्षायिकादि भाव को परद्रव्य क्यों कहा?

उससे कहते हैं कि भाई, सुनो! **उन भावों का विचार करने पर राग उत्पन्न होता है; अतः पर्यायबुद्धि छुड़ाने के प्रयोजन से उसे व्यवहार कहकर, गौण करके, अभूतार्थ कहा,** परद्रव्य कहा, हेय कहा और भूतार्थ शुद्धद्रव्य को स्वद्रव्य कहकर उपादेय कहा, कारण कि उसके आश्रय से धर्म होता है।[२]

त्रिकाली सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतरागी सुखरूप अन्तःतत्त्व है। शुद्धभाव, शुद्धस्वभावभाव है और उसका आधार परमपारिणामिकभाववाला कारण समयसार है। सहजज्ञान-दर्शन कहकर भिन्न-भिन्न गुणों के भेद समझाए थे। उनका आधार कारणपरमात्मा कहकर अभेद कह दिया। स्वद्रव्य में ज्ञानदर्शनादि चार भेद से समझाया

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४७२ २. वही, पृष्ठ ४७३

है और उनको अभेद करके कारणसमयसार कहा। यही सम्यग्दर्शन के लिए उपाय है ह्न यही धर्म का कारण है।

वास्तव में शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप कारणपरमात्मा उपादेय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय अथवा मोक्ष की पर्याय भी आदरणीय नहीं, कारण कि वह कार्यरूप है; कार्य में से कार्य प्रकट होता नहीं, अथवा पर्याय में से पर्याय नहीं आती; इसलिए स्वभाव शुद्ध त्रिकाल एकरूप है ह्न वह कारण है, उसमें से कार्य आया है। कार्य उपादेय नहीं, किन्तु कारणपरमात्मा उपादेय है। पर्याय के ऊपर का लक्ष छुड़ाने के प्रयोजन से उस पर्याय को परद्रव्य कहकर, एकरूप शुद्धस्वभाव को स्वद्रव्य मानकर आदरणीय कहा है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि पर और पर्याय से रहित, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत, त्रिकालीध्रुव अपना आत्मा ही एकमात्र उपादेय है, अपनापन स्थापित करने योग्य है, आराधना करने योग्य है, ध्यान का ध्येय है। अतः समस्त जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र निज-शुद्धात्मा पर केन्द्रित करने में ही सार है, शेष सब असार है, संसार है॥५०॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धान्तोऽमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥२५॥[२]

(हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४७३ २. समयसार : आत्मख्याति, कलश १८५

जो विविध परभाव मुझ में दिखें वे मुझ से पृथक्।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं॥२५॥

जिनका चित्त और चरित्र उदार हैं ह्न ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा इस सिद्धान्त का सेवन किया जाना चाहिए कि मैं तो सदा एक शुद्ध चैतन्यमय परमज्योति हूँ और मुझसे पृथक् लक्षणवाले विविधप्रकार के जो भाव प्रगट होते हैं; वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

इस छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''और जो भिन्न-भिन्न लक्षणवाले दया-दान-हिंसा-झूँठ-चोरी आदि के भाव होते हैं ह्न वे मैं नहीं हूँ तथा जो नई-नई निर्मल पर्यायें उत्पन्न होती हैं ह्न वे भी मैं नहीं हूँ, कारण कि वे सब परद्रव्य हैं। निर्मलतारूपी कार्य पर्याय में होता है, किन्तु पर्याय से पर्याय प्रकट नहीं होती; अतः पर्याय को परद्रव्य कहा है। जब पर्याय स्वद्रव्य की तरफ ढलती है तब धर्मदशा प्रकट होती है, इसलिए त्रिकालीस्वभाव को स्वद्रव्य कहा है।

यहाँ यह बताया है कि जिसको दानी बनना हो अर्थात् अपनी निर्मल पर्याय का दान अपने को देना हो, वह इस अभिप्राय का सेवन करे कि एक समय की पर्याय जानने योग्य तो है, किन्तु आदर करने योग्य नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का पुण्यपरिणाम भी उदार नहीं है और एक समय की पर्याय भी उदार नहीं है, त्रिकालीस्वभाव एक ही उदार और आदर करने योग्य है। पर्याय तो एक के बाद एक होती है, उसके लक्ष से अनेकता होती है, अतः सभी पर्यायें परद्रव्य हैं। इसलिए अनेक का लक्ष छोड़कर एकरूप द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान करो ह्न यही एक धर्म का कारण है।[१]''

उक्त कलश में यही बात कही गई है कि जो मोक्षार्थी हैं, मुमुक्षु हैं, जिन्हें दु:खों से मुक्त होने की आकांक्षा है; उन्हें इस महान सिद्धान्त पर

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४७५

अपनी श्रद्धा दृढ करना चाहिए और इसी के अनुसार आचरण भी करना चाहिए॥२५॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥७४॥

(सोरठा)

वे न हमारे भाव, शुद्धातम से अन्य जो।
ऐसे जिनके भाव, सिद्धि अपूरव वे लहें॥७४॥

शुद्धजीवास्तिकाय से भिन्न अन्य जो पुद्गलद्रव्य के भाव हैं; वस्तुत: वे सभी हमारे नहीं हैं, जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से इसप्रकार कहते हैं; वे सभी अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्धजीवास्तिकाय कहो, कारणसमयसार कहो, त्रिकालध्रुव-स्वभाव कहो, नित्य कहो, त्रिकालकारणशुद्धजीव कहो, सभी एकार्थ-वाचक हैं। शुद्धजीव के अतिरिक्त पर्याय में होनेवाले दया-दानादि के भाव वास्तव में हमारे नहीं हैं, विकार तथा ज्ञान का हीनपना भी हमारा स्वरूप नहीं है; यह सब पुद्गल के लक्ष से होनेवाले भाव हैं; अतः पुद्गलद्रव्य के ही भाव हैं, शुद्धजीव के भाव नहीं हैं ह्न ऐसा तत्त्व के ज्ञायक स्पष्टतया कहते हैं अर्थात् मानते हैं और वे ही पूर्व में कभी नहीं प्रकट हुई ऐसी मुक्तिदशा को पाते हैं।[१]''

उक्त छन्द में यही कहा गया है कि जो व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि मैं तो शुद्धजीवास्तिकाय ही हूँ, अन्य कुछ भी नहीं; वही व्यक्ति आत्मोपलब्धिरूप अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है॥७४॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४७६

नियमसार गाथा ५१-५५

विगत गाथा में यह कहा गया है कि दृष्टि के विषयभूत और ध्यान के ध्येय तथा परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।

अब आगामी गाथाओं में उक्त उपादेय भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं ह्न

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं।।५१।।
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं।।५२।।
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छयएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि।।५४।।
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो।।५५।।

(हरिगीत)

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
विभरम संशय मोह विरहित ज्ञान ही सद्ज्ञान है।।५१।।
चल मल अगाढ़पने रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
आदेय हेय पदार्थ का ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।५२।।
जिन सूत्र समकित हेतु पर जो सूत्र के ज्ञायक पुरुष।
वे अंतरंग निमित्त हैं दृग मोह क्षय के हेतु से।।५३।।
सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण है मुक्तिमग।
व्यवहार-निश्चय से अत: चारित्र की चर्चा करूँ।।५४।।

व्यवहारनय चारित्र में व्यवहारनय तपचरण हो।
नियतनय चारित्र में बस नियतनय तपचरण हो।।५५।।

विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान ही सम्यग्ज्ञान है और संशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

चल, मल और अगाढ दोषों से रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है तथा हेय और उपादेय तत्त्वों का जाननेरूप भाव ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है और जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष सम्यग्दर्शन के अंतरंग हेतु कहे गये हैं; क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक होते हैं।

मोक्ष का कारण सम्यक्त्व है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र है; इसलिए मैं व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र का निरूपण करूँगा।

व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है।

इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। भेदोपचाररत्नत्रय इसप्रकार है। विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धानरूप, सिद्धि का परम्पराहेतुभूत; भगवंत पंचपरमेष्ठी के प्रति; चल, मल और अगाढ ह्न दोषों से रहित; निश्चल भक्ति ही सम्यक्त्व है।

इसका अर्थ यह है कि विष्णु-ब्रह्मादि द्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थ समूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव ही सम्यक्त्व है।

इसीप्रकार संशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

देव शिव हैं या जिन हैं ह्न इसप्रकार का शंकारूप अनिश्चय का भाव संशय है। शाक्यादि (बुद्धादि कथित वस्तु) में निश्चय विमोह (विपर्यय) है और वस्तुस्वरूप के संबंध में अजानपना (अज्ञान) ही विभ्रम (अनध्यवसाय) है।

इसीप्रकार पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है। उक्त सभी भेदोपचाररत्नत्रय परिणति है।

उसमें जिनप्रणीत हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारीकारण वीतराग-सर्वज्ञ के मुख कमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है और जो ज्ञानी धर्मात्मा मुमुक्षु हैं; उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है; क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

उन अभेद-अनुपचाररत्नत्रय परिणतिवाले जीव को; टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप निजपरमतत्त्व के श्रद्धान से, उस परमतत्त्व के ज्ञानरूप अन्तर्मुख परमबोध से और उस परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज चारित्र से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।

जो परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय से चारित्र में स्थित होते हैं; उन्हें व्यवहारनयगोचर तपश्चरण होता है।

सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन तप है। उस परम योगीश्वर को निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप इस तप से सहज निश्चयचारित्र होता है।''

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जो जीव निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट करता है उसको कौन निमित्त होता है ह्न इसकी पहचान इस गाथा में कराई है। **सम्यग्दर्शन में निमित्त भगवान की वाणी अथवा वाणी से रचित जिनसूत्र हैं।**[१]

जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुष अन्तरंग निमित्त हैं। जिनसूत्र के मात्र शब्द निमित्त नहीं होते, अपितु जिनसूत्र के रहस्य को जानकर तदनुसार अन्तरंग परिणमन को प्राप्त ज्ञानी पुरुष, जिन्होंने स्वयं में सम्यग्दर्शन उपलब्ध कर लिया है; यद्यपि वे भी दूसरे के लिए सम्यग्दर्शन में अन्तरंग

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८०

नहीं; तथापि वाणी और ज्ञानी पुरुष ह्न इन दोनों निमित्तों में भेद-प्रदर्शन के लिए वाणी को बाह्य और ज्ञानी को अन्तरंग निमित्त कहा है।

यद्यपि ज्ञानी पुरुष पर हैं, फिर भी वे क्या कहना चाहते हैं; उस आत्मिक अभिप्राय को उनके समक्ष उपस्थित धर्म प्राप्त करनेवाला जीव जब पकड़ लेता है और अभिप्राय को पकड़ से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है, तब उस ज्ञानी पुरुष को जिससे उपदेश मिला है, अन्तरंग हेतु अथवा निमित्त कहा जाता है।[१]

निश्चयसम्यक्त्व प्रकट हुए जीव को व्यवहारश्रद्धा कैसी होती है ह्न वह बताते हैं। भगवान सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेवादि में उसे श्रद्धा नहीं होती, पंचपरमेष्ठी के प्रति विपरीत अभिप्रायरहित सच्ची श्रद्धा होती है; यही श्रद्धा मोक्ष की सिद्धि का परम्परा हेतु है।

जीव को अपने कारणपरमात्मा की श्रद्धा है और उसी के आश्रय से मोक्ष प्राप्त होगा, इसलिए पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा के राग को व्यवहार से परम्परा हेतु कहा है; तथा भगवान द्वारा कथित स्वरूप सम्बन्धी श्रद्धा में उसको कुछ भी दोष नहीं होता; भगवान ने स्वरूप कहा वैसे ही होगा, अथवा अन्य प्रकार से होगा ह्न ऐसी चंचलता, मलिनता अथवा अगाढ़ता रहित श्रद्धान उसके होता है।[२]

प्रथम व्यवहार की बात की, वह जानने के लिए है; परन्तु आदरणीय नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभाव एक ही आदरणीय है। आत्मा के अन्दर उदयभाव, क्षयोपशमभाव, उपशमभाव है; वह एकसमय की पर्याय है, पर्याय में से पर्याय आती नहीं। पूर्व पर्याय तो व्ययरूप है, परन्तु शुद्ध चैतन्यस्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसके अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप की दृष्टि करना ही धर्म का कारण है। इसप्रकार जो जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करके लीनता करता है; उसको अभूत-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८०-४८१
२. वही, पृष्ठ ४८२

पूर्व सिद्ध दशा प्रकट होती है। उस सिद्धदशा का कारण निजकारण-परमात्मा है।[१]''

इन गाथाओं और उनकी टीका में भेदरत्नत्रय (व्यवहारत्नत्रय) और अभेदरत्नत्रय (निश्चयरत्नत्रय) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सम्यग्दर्शन के बाह्य सहकारी कारण (निमित्त) के रूप में वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया गया है और दर्शनमोहनीय के क्षयादिक के कारण ज्ञानी धर्मात्माओं को पदार्थ निर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंगहेतु (निमित्त) उपचार से कहा गया है।

यद्यपि अन्य शास्त्रों में दर्शनमोहनीय के क्षयादिक को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु (निमित्त) और देव-शास्त्र-गुरु व उनके उपदेश को बहिरंग हेतु (निमित्त) के रूप में स्वीकार किया गया है; तथापि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग हेतु बताया जा रहा है।

प्रश्न ह्न दर्शनमोहनीय के क्षयादिक का उल्लेख तो यहाँ भी है।

उत्तर ह्न हाँ; है तो, पर यहाँ पर तो जिसका उपदेश निमित्त है, उस ज्ञानी के दर्शनमोहनीय के क्षयादिक की बात है और अन्य शास्त्रों में जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है या होना है, उसके दर्शनमोह के क्षयादिक की बात है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को उपचार से अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है। यद्यपि **उपचार** शब्द के प्रयोग से बात स्वयं कमजोर पड़ जाती है; तथापि जिनगुरु और जिनागम की निमित्तता के अंतर को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग निमित्त कहा गया है।

जिनवाणी और ज्ञानी धर्मात्माओं में यह अंतर है कि जिनवाणी को तो मात्र पढा ही जा सकता है; पर ज्ञानी धर्मात्माओं से पूछा भी जा सकता है, उनसे चर्चा भी की जा सकती है। जिनवाणी में तो जो भी

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८८-४८९

लिखा है, हमें उससे ही संतोष करना होगा; पर वक्ता तो हमारी पात्रता के अनुसार हमें समझाता है। वह अकेली वाणी से ही सब कुछ नहीं कहता, अपने हाव-भावों से भी बहुत कुछ स्पष्ट करता है। यही अंतर स्पष्ट करने के लिए यहाँ उक्त अन्तर रखा गया है।।५१-५५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा एकत्व सप्तति में भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः।।२६।।[१]

(दोहा)

आत्मबोध ही बोध है, निश्चय दर्शन जान।
आत्मस्थिति चारित्र है युति शिवमग पहचान।।२६।।

आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का बोध सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में लीनता सम्यक्चारित्र है ह्न ऐसा योग अर्थात् तीनों की एकरूपता मुक्ति का मार्ग है।

इस छन्द में निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र और इन तीनों की एकतारूप निश्चय मोक्षमार्ग को संक्षेप में अत्यन्त सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है।।२६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज भी एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च।।७५।।

१.पद्मनंदिपंचविंशतिका : एकत्वसप्तति छन्द १४

(हरिगीत)

जयवंत है सद्बोध अर सद्दृष्टि भी जयवंत है।
अर चरण भी सुविशुद्ध जो वह भी सदा जयवंत है॥
अर पापपंकविहीन सहजानन्द आतमतत्त्व में।
ही जो रहे, वह चेतना भी तो सदा जयवंत है॥७५॥

सहजज्ञान जयवंत है, सहजदृष्टि भी सदा जयवंत है और विशुद्ध सहज चारित्र ही सदा जयवंत है। पापसमूहरूपी कीचड़ की पंक्ति से रहित स्वरूपवाली सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवंत है।

अधिकार के अन्त में समागत इस कलश में रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग की जयवंतता-जीवन्तता को स्पष्ट करते हुए अन्तमंगलाचरण किया गया है॥७५॥

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धभावाधिकार नामक तीसरा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** •

परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयभूत एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभाव-स्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निज शुद्धात्मतत्त्व पर लाना है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है।

अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है। **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०३**

व्यवहारचारित्राधिकार

(गाथा ५६ से गाथा ७६ तक)

नियमसार गाथा ५६

जीवाधिकार, अजीवाधिकार एवं शुद्धभावाधिकार के उपरान्त अब व्यवहारचारित्राधिकार आरंभ करते हैं। इस अधिकार के आरंभ में अहिंसादि पंच महाव्रतों की चर्चा की गई है। सबसे पहले ५६वीं गाथा में अहिंसा महाव्रत की चर्चा है। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभ णियत्तण परिणामो होइ पढमवदं॥५६॥

(हरिगीत)

कुल योनि जीवस्थान मार्गणथान जिय के जानकर।
उन्हीं के आरंभ से बचना अहिंसाव्रत कहा॥५६॥

कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि को जानकर, उनके आरंभ से निवृत्तिरूप परिणाम पहला (अहिंसा) व्रत है।

इस गाथा के भाव को मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है। कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान और मार्गणास्थान के भेद पहले ४२वीं गाथा की टीका में कहे गये हैं। यहाँ पुनरुक्ति दोष के भय से उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। वहाँ कहे गये भेदों को जानकर उनकी रक्षा करने के भावरूप परिणति ही अहिंसाव्रत है। उन जीवों का मरण हो या न हो; प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता।

अत: प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''शुद्धभाव अधिकार में मात्र अभेद परमस्वभाव का ही आश्रय बतलाया था। यहाँ पर्याय का ज्ञान कराते हैं। **परजीव की रक्षा या हिंसा तो आत्मा कर ही नहीं सकता; किन्तु मुनिराजों को जो अहिंसा का शुभ विकल्प उठता है, उसको यहाँ व्यवहार से अहिंसाव्रत कहा है।**[१]

निश्चय से तो शुभभाव भी स्वरूप की हिंसा है; परन्तु व्यवहार में पाप के अभाव को अहिंसा कहते हैं। **मुनिराजों को निश्चय से तो स्वभाव के आश्रय का ही प्रयत्न है;** परन्तु उसमें लीन न रह सकने की दशा में ऐसी व्यवहार अहिंसा का विकल्प होता है।[२]''

इस गाथा में अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जीवों का घात हो या न हो, प्रयत्नरूप परिणाम के बिना सावद्य का परिहार नहीं होता। यही कारण है कि **प्रयत्नपरायण व्यक्ति को ही हिंसा परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है॥५६॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा आचार्य समन्तभद्रदेव ने भी कहा है' ह्न** यह कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शिखरिणी)

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥२७॥[३]

(हरिगीत)

अहिंसा परमब्रह्म है सारा जगत यह जानता।
अर गृहस्थ आश्रम में सदा आरंभ होता नियम से॥
बस इसलिए नमिदेव ने दो विध परिग्रह त्यागकर।
छोड़ विकृत वेश सब निर्ग्रन्थपन धारण किया॥२७॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४९२-४९६
२. वही, पृष्ठ ४९७
३. वृहत् स्वयंभूस्तोत्र : ११९वाँ छन्द नमिनाथ भगवान की स्तुति

सारा जगत यह जानता है कि अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रम (गृहस्थ) की विधि में लेश भी आरंभ है; उस गृहस्थाश्रम में अहिंसा धर्म की पूर्णत: सिद्धि नहीं हो सकती। यही कारण है कि हे नमिनाथप्रभु ! अत्यन्त करुणावंत आपने द्रव्य और भाव ह्न दोनों प्रकार के परिग्रहों को तथा विकृत वेश को त्यागकर एवं परिग्रह से विरत होकर निर्ग्रन्थपना अंगीकार किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''छठे गुणस्थान में मुनिराजों को पंच महाव्रत का विकल्प होता है, उसमें पर की हिंसा टली है। तथा स्वभाव का आश्रय प्रकट हुआ है अर्थात् अपने आत्मा की भी अहिंसा प्रकटी है। ऐसे मुनिराजों को जैसी परमब्रह्मरूप अहिंसा होती है, वैसी गृहस्थ को नहीं होती।[१]

स्वभाव का भान और स्थिरता वाले मुनिराजों को शुभराग आता है, उस शुभराग को व्यवहार से अहिंसाव्रत कहते हैं। निश्चय से तो अन्तर में स्वभाव के आश्रय से जो वीतरागता है, वही अहिंसा है; वही धर्म है।[२]''

इस छन्द में अहिंसा को परमब्रह्म कहा है और यह स्पष्ट किया है कि गृहस्थ अवस्था में इसका परिपूर्ण पालन संभव नहीं है। यही कारण है कि तीर्थंकरदेव गृहस्थावस्था त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार करते हैं॥२७॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां
विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः॥७६॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४९८ २. वही, पृष्ठ ४९९

(हरिगीत)

त्रसघात के परिणाम तम के नाश का जो हेतु है।
और थावर प्राणियों के विविध वध से दूर है॥
आनन्द सागरपूर सुखप्रद प्राणियों को लोक के।
वह जैनदर्शन जगत में जयवंत वर्ते नित्य ही॥७६॥

जो जैनधर्म त्रसघात के परिणामरूप अंधकार के नाश का हेतु है, सम्पूर्ण लोक के जीवसमूह को सुख देनेवाला है, एकेन्द्रिय अर्थात् स्थावर जीवों की अनेकप्रकार की हिंसा से बहुत दूर है और सुन्दर सुख सागर की बाढ है; वह जैनधर्म जगत में जयवंत वर्तता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता प्रकट हुई, उतनी तो निश्चय अहिंसा है और छठी भूमिका में शुभराग की वृत्ति उठने पर त्रस-स्थावर की हिंसा के परिणाम न हों, वह व्यवहार अहिंसा है।

सम्यग्दृष्टि के चौथे गुणस्थान में अभी स्वभाव का अवलम्बन हीन है तथा वहाँ एकेन्द्रिय के हिंसा के परिणाम भी होते हैं।[१]

परजीव को बचा सके या मार सके, यह बात तो वस्तुस्वभाव में है ही नहीं। जैनधर्म तो अन्तरंग कारणपरमात्मा के अवलम्बन से जितनी वीतरागदशा प्रकटी वह है; वही परमार्थ से अहिंसा है, और बीच में जो शुभविकल्प आया, वह व्यवहार अहिंसा है। ज्ञानी जीव उस शुभराग से धर्म नहीं मानता, परमार्थ से तो वह उसका ज्ञाता ही है। निश्चयधर्म तो स्वाश्रय से प्रकट हुई वीतरागता ही है और शुभ के समय अशुभ नहीं होने दिया ह्न इस अपेक्षा से उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है।[२]''

इस छन्द में अहिंसाव्रत का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि त्रसघात से रहित, स्थावर जीवों के घात से विरक्त, आनन्दसागर अहिंसामयी जिनधर्म जयवंत वर्तता है और निरन्तर जयवंत वर्तता रहे॥७६॥ ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५००-५०१
२. वही, पृष्ठ ५०१

नियमसार गाथा ५७

विगत गाथा में अहिंसाव्रत के स्वरूप का विवेचन किया गया है और अब इस गाथा में सत्यव्रत के स्वरूप का कथन करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव॥५७॥

(हरिगीत)

मोह एवं राग-द्वेषज मृषा भाषण भाव को।
हैं त्यागते जो साधु उनके सत्यभाषण व्रत कहा॥५७॥

मोह से अथवा राग-द्वेष से होनेवाले झूठ बोलने के भावों को जो साधु छोड़ते हैं; उन साधुओं को दूसरा व्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है। यहाँ ऐसा कहा गया है कि सत्य का प्रतिपक्षी परिणाम मृषापरिणाम है। वे मृषापरिणाम राग से, द्वेष से और मोह से होते हैं। जो आसन्नभव्य जीव साधु उक्त परिणामों को त्याग देता है; उस साधु को दूसरा व्रत होता है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अज्ञानी को स्वरूप की अनुपलब्धि के कारण मिथ्या परिणाम होते हैं अथवा राग-द्वेष के कारण असत्य के परिणाम होते हैं, किन्तु मुनिराजों के तो स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से असत्य बोलने के परिणाम होते ही नहीं; इसलिए उन्होंने असत्य परिणाम छोड़े ह्न ऐसा कहा जाता है। **मुनिराज के स्वभावावलम्बन होने के कारण पर्याय की भी ऐसी योग्यता होती है कि उसमें तीव्र राग होता ही नहीं।**[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०३

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण संबंधी राग-द्वेष के अभाव में मुनिराजों के असत्यभाषण के परिणाम ही नहीं होते; इसकारण उनके असत्यभाषण होता ही नहीं है। यही उनका असत्यत्याग महाव्रत है।५७।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ।।७७ ।।

(हरिगीत)

जो पुरुष बोलें सत्य अति स्पष्ट वे सब स्वर्ग की।
देवांगनाओं के सुखों को भोगते भरपूर हैं।।
इस लोक में भी सज्जनों से पूज्य होते वे पुरुष।
इसलिए इस सत्य से बढकर न कोई व्रत कहा।।७७।।

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलते हैं, वे स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख के भागी होते हैं और इस लोक में भी सभी सत्पुरुषों से पूज्य होते हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि क्या इस सत्य से बढकर भी कोई व्रत है ?

सत्य महाव्रत के फल का निरूपण करते हुए उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि झूठ नहीं बोलने और सदा सत्य बोलने का भाव शुभभाव है; अतः उसके फल में परलोक में देवांगनाओं से भरे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इहलोक में पूज्यपना प्राप्त होता है; इसलिए इससे बढकर कोई व्रत नहीं है।।७७।। ●

नियमसार गाथा ५८

विगत गाथा में सत्यव्रत की बात की है और अब इस गाथा में अचौर्यव्रत की बात करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव।।५८।।

(हरिगीत)

ग्राम में वन में नगर में देखकर परवस्तु जो।
उसके ग्रहण का भाव त्यागे तीसरा व्रत उसे हो।।५८।।

ग्राम में, नगर में अथवा वन में पराई वस्तु को देखकर जो साधु उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है। जिसके चारों ओर बाढ हो, वह **ग्राम** है और जो चार दरवाजों से सुशोभित हो, वह **नगर** है। जो मनुष्यों के संचार से रहित हो, वनस्पति समूह, बेलों और वृक्षों के झुंड आदि से भरा हो; वह **अरण्य** है।

इसप्रकार के ग्राम, नगर या अरण्य (वन) में अन्य से छोड़ी हुई, रखी हुई, गिरी हुई या भूली हुई परवस्तु को देखकर उसको ग्रहण करने के परिणामों को जो छोड़ता है; उसको तीसरा अचौर्यव्रत होता है।''

इस गाथा में अचौर्यव्रत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ग्राम, नगर और अरण्य (वन) को परिभाषित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव के काल में सुरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक ग्राम के चारों ओर परकोटा होता होगा और बड़े ग्रामों अर्थात् नगरों में परकोटे के साथ-साथ चारों ओर चार दरवाजे भी होते होंगे।।५८।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ।।७८ ।।

(हरिगीत)

अचौर्यव्रत इस लोक में धन सम्पदा का हेतु है।
परलोक में देवांगनाओं के सुखों का हेतु है।।
शुद्ध एवं सहज निर्मल परिणति के संग से।
परम्परा से मुक्तिवधु का हेतु भी कहते इसे।।७८।।

यद्यपि यह उग्र अचौर्यव्रत इस लोक में रत्नों के संचय को आकर्षित करता है और परलोक में देवांगनाओं के सुख का कारण है; तथापि क्रमानुसार मुक्तिरूपी अंगना (स्त्री) के सुख का कारण भी है।

उक्त कलश के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''स्वभाव का अवलम्बन है और अशुभ परिणाम आने नहीं दिए, तब शुभ भाव से पुण्य बंधकर बाहर के रत्नों का खजाना मिलता है; परन्तु उस शुभ से अन्तर के चैतन्यरत्न की प्राप्ति नहीं होती। चैतन्यरत्न की प्राप्ति तो स्वभाव के ही अवलम्बन से होती है।

व्यवहारव्रत तो शुभ राग है, संयोगी भाव है; उसके फल में बाह्य संयोग मिलते हैं। व्यवहारव्रत को परम्परा से क्रम से मुक्ति का कारण कहा। वहाँ व्यवहारव्रत में जो शुभ राग है, उसका फल तो स्वर्ग ही है; परन्तु उसी समय साथ में स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागी भाव प्रकट हुआ है; वह क्रम से मुक्ति कारण होता है; इसलिए उसके साथ होने वाले शुभ राग को भी उपचार से मुक्ति का परम्परा कारण कहा है।[१]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५०६-५०७

इस कलश में यही कहा गया है कि जिसप्रकार सत्यव्रत से इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है; उसीप्रकार इस अचौर्यव्रत से इस भव में रत्नों (धन) का संचय होता है और अगले भव में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। साथ में अचौर्यव्रत को परम्परा मुक्ति का कारण भी बताया गया है।

भले ही अहिंसा व सत्यव्रत के फल को परम्परा से मुक्ति का कारण न कहा हो; पर स्थिति तो यही है कि ये सभी व्रत परम्परा मुक्ति के कारण कहे जाते हैं; क्योंकि इन व्रतों के साथ मुनिराजों के तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति होती है। **मुक्ति का कारण तो वह शुद्ध परिणति है; पर उसके संयोग से इन व्रतों को भी परम्परा से मुक्ति का कारण कह देते हैं।।७८।।** ●

जब कोई आदमी अत्यन्त पवित्रभाव से बिना किसी स्वार्थ के बिना किसी अच्छे काम को करता है और उस कार्य में सफलता मिलती है, प्रोत्साहन मिलता है, यश मिलता है और जिस पावन उद्देश्य से उसने कार्य आरम्भ किया था, यदि उसमें कुछ उन्नति प्रतीत होती है तो उसका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगता है। उत्साह के बढ़ने से कार्य को भी गति मिलती है और ऐसा लगने लगता है कि अब सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में कुछ देर नहीं। किन्तु 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' की नीत्युनसार जब उसके उन कार्यों में विघ्न पड़ने लगता है; उस पवित्र कार्य के कारण भी जब उसके अपयश मिलने लगता है, उस पर अवांछित शक किये जाने लगते हैं, उसे बदनाम किया जाने लगता है तो उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ने लगता है। उसके हृदय में एक वितृष्णा का भाव जगने लगता है। यद्यपि वह कार्य अच्छा भी हो, तथापि उस कार्य के प्रति उसके हृदय में एक अरुचि-सी उत्पन्न हो जाती है। वह सोचने लगता है ह्न यहाँ तो होम करते ही हाथ जलते हैं। **ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-१४४**

नियमसार गाथा ५९

विगत तीन गाथाओं में क्रमश: अहिंसा, सत्य और अचौर्य ह्न इन तीन व्रतों की चर्चा की गई है। अब इस गाथा में ब्रह्मचर्य नामक चौथे व्रत की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं।।५९।।

(हरिगीत)

देख रमणी रूप वांछा भाव से निर्वृत्त हो।
या रहित मैथुनभाव से है वही चौथा व्रत अहो।।५९।।

महिलाओं का रूप देखकर उनके लक्ष्य से होनेवाले वांछारूप भावों से निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित परिणामों को ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत कहते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है। कमनीय कामनियों (सुन्दर महिलाओं) के मनोहर अंगों को देखकर चित्त में उत्पन्न होनेवाले वांछा रूप कौतुहल के त्याग से अथवा पुरुषवेद के उदयरूप नो कषाय के तीव्र उदय के कारण होनेवाली मैथुन संज्ञा के परित्यागरूप शुभ परिणाम से ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत होता है।''

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि महिलाओं के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले रमणरूप भाव और मैथुनरूप प्रवृत्ति का त्याग ही ब्रह्मचर्य नामक चौथा व्रत है।

उक्त कथन व्यवहार ब्रह्मचर्य का है। निश्चय ब्रह्मचर्य तो छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते रहनेवाले मुनिराजों की मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में होनेवाली वीतराग परिणति ही है।।५९।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

भवति तनुविभूति: कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वच: किम्।
सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम्।।७९।।

(हरिगीत)

कामी पुरुष यदि तू सदा ही कामनी की देह के।
सौन्दर्य के संबंध में ही सोचता है निरन्तर।।
तेरे लिये मेरे वचन किस काम के किस हेतु से।
निज रूप को तज मोह में तू फंस रहा है निरन्तर।।७९।।

हे कामी पुरुष ! यदि तू सुन्दर महिलाओं के शरीर के सौन्दर्य को देख-देखकर मन में उसका ही स्मरण करता रहता है, विचार करता रहता है तो फिर मेरे वचनों से तुझे क्या लाभ होगा ?

अहो आश्चर्य तो यह है कि सहजपरमतत्त्वरूप निजस्वरूप को छोड़कर तू अत्यधिक मोह को किसलिए प्राप्त हो रहा है ?

उक्त छन्द में निरन्तर वैराग्यभाव में सराबोर रहनेवाले मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर कह रहे हैं कि यह जगत अनंत आनंद के कंद निज परमात्मतत्त्व के सौन्दर्य से विरक्त होकर अत्यन्त मलिन नारी की देह में अनुरक्त क्यों हो रहा है ? तू इस बात पर जरा गंभीरता से विचार कर।

खेद व्यक्त करते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि ऐसे लोगों को वैराग्य रस के पोषक हमारे उपदेश से कोई लाभ होनेवाला नहीं है।।७९।। ●

भाई ! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी।

ह्न गागर में सागर, पृष्ठ-७९

नियमसार गाथा ६०

विगत चार गाथाओं में चार व्रतों की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में पाँचवें व्रत की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।।६०।।

(हरिगीत)

निरपेक्ष भावों पूर्वक सब परिग्रहों का त्याग ही।
चारित्रधारी मुनिवरों का पाँचवाँ व्रत कहा है।।६०।।

पर की अपेक्षा से रहित शुद्धनिरपेक्ष भावनापूर्वक सभी प्रकार के परिग्रहों के त्याग संबंधी शुभभाव के साथ भूमिका के योग्य चारित्र का भार वहन करनेवाले मुनिवरों को पाँचवाँ परिग्रहत्याग व्रत होता है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ परिग्रहत्याग नामक पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा गया है।

सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप है स्वरूप जिसका, उस निजरूप कारण परमात्मा के स्वरूप में स्थित; निश्चय-व्यवहाररूप चारु चारित्र के भार को वहन करनेवाले, परमसंयमी, परमजिनयोगीश्वरों का; बाह्या-भ्यन्तर २४ प्रकार के परिग्रहों का परित्याग ही, परम्परा से पंचमगति का हेतुभूत पाँचवाँ परिग्रहत्यागव्रत है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''कारणशुद्धपरमात्मा तो त्रिकाल है और उसमें अवस्थित होनेवाली दशा नई प्रकट होती है। जिसको ऐसे कारणपरमात्मा में स्थिरता प्रकट हुई है, वह परमसंयमी मुनि है; उसी परमजिनयोगीश्वर को निश्चय-व्यवहारचारित्र होता है। स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता

हुई; उतना निश्चयचारित्र है, उसके साथ अट्ठाईस मूलगुण आदि का जो विकल्प वर्तता है, वह व्यवहारचारित्र है।[१]

चौबीस प्रकार के परिग्रहत्याग का शुभविकल्प तो व्यवहारव्रत है; चूँकि उसके साथ शुद्धपरिणति है, इसलिए उस व्यवहारव्रत को उपचार से मोक्ष का परम्पराकारण कहा है।[२]

जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो, वहाँ मात्र शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुत्व का आरोप भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्पराहेतु प्रकट ही नहीं हुआ, विद्यमान ही नहीं; वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना ?[३]

शुभोपयोगी मुनि को भी वास्तव में तो शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करनेवाली परिणति ही विशेष शुद्धता का कारण है; परन्तु यह **व्यवहार-चारित्र का अधिकार चल रहा है; इसलिए उस मुनि के शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का निमित्त मानकर उपचार से परम्परा मोक्ष का कारण कहा है।**[४]

छठे गुणस्थान की एक पर्याय में दो भाग हैं। जितनी चैतन्य के आश्रय से वीतरागता है, उतना शुद्धभाव है और बीच में जितना शुभराग है, उतना अशुद्धभाव है। यदि शुद्धता न हो तो मुनिदशा नहीं हो सकती और यदि अशुद्धतारूप रागांश न हो तो परिपूर्ण वीतरागता हो जाय। **मुनि को छठे गुणस्थान में एक पर्याय में दो प्रकार एक साथ वर्तते हैं।**[५]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अपरिग्रहस्वभावी निजकारणपरमात्मा में स्थित, निश्चय-व्यवहारचारित्र के धनी सन्तों का सभी प्रकार के चौबीसों परिग्रहों का त्याग ही परिग्रहत्याग महाव्रत है।।६०।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५१४
२. वही, पृष्ठ ५१४
३. वही, पृष्ठ ५१५
४. वही, पृष्ठ ५१५
५. वही, पृष्ठ ५१७-५१८

इसके बाद **'तथा समयसार में कहा है'** ह्न ऐसा कहकर मुनिराज समयसार की एक गाथा उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२८।।[1]

(हरिगीत)

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं।।२८।।

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। चूँकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि **यदि तू जड़ परिग्रह को अपना मानेगा तो तू अपनी मान्यता में जड़ हो जावेगा; क्योंकि जड़ का स्वामी तो जड़ ही होता है। इसलिए हे भव्यप्राणी परिग्रह के स्वामित्व की मान्यता को जड़मूल से उखाड़ फैंक।।२८।।**

इसके बाद **'तथा हि'** लिखकर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसताभिदम्।।८०।।

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! भवभीरुता बस परिग्रह को छोड़ दो।
परमार्थ सुख के लिए निज में अचलता धारण करो।।
जो जगतजन को महादुर्लभ किन्तु सज्जन जनों को।
आश्चर्यकारी है नहीं आश्चर्य दुर्जन जनों को।।८०।।

हे भव्यजीव ! भवभय के कारण परिग्रह विस्तार को छोड़ो और

१. समयसार, गाथा २०८

निश्चयसुख के आवास (घर) की प्राप्ति के लिए, निज आत्मा में, जगतजनों में दुर्लभ ऐसी सुखकर अविचल स्थिरता धारण करो।

यह अविचल स्थिरता धारण करना सत्पुरुषों को कोई आश्चर्य की बात नहीं है; पर असत्पुरुषों को तो आश्चर्य की बात है ही।

उक्त कलश में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव भवभ्रमण से भयभीत भव्यों को प्रेरणा दे रहे हैं कि **यदि तुम भवभ्रमण से बचना चाहते हो तो अनंत संसार के कारणरूप इन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का परित्याग कर दो और अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करो, उसे गहराई से जानो, निजरूप जानो और उसी में जम जावो, रम जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र उपाय यही है।**

यद्यपि यह कार्य असत्पुरुषों को इतना आसान नहीं है; तथापि सत्पुरुषों के लिए तो सहज ही है। इसलिए हे सत्पुरुषो ! इस दिशा में आगे बढो।।८०।। ●

सफलता संगठन और असफलता विघटन की जननी है। जब किसी काम में एक के बाद एक सफलताएँ मिलती चली जाती हैं तो हमारा उत्साह बढ़ जाता है और अनेक लोग हमारे साथ हो जाते हैं, कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ता है, उनमें एक नई उमंग जागृत हो जाती है। नए-नए लोगों के शामिल होते जाने से जहाँ संगठन विशालरूप धारण करने लगता है, वहीं उसमें दृढ़ता का विकास भी होता है; किन्तु जब किसी संगठन को असफलता का सामना करना पड़ता है तो उसमें दरारें पड़ने लगती हैं। उसके सदस्य एक-दूसरे से कतराने लगते हैं, परस्पर एक-दूसरे की आलोचनाएँ ही नहीं करते, वरन् असफलता का दोष भी एक-दूसरे के सिर मढ़ने लगते हैं। यह आरोप-प्रत्यारोप का सिलसिला यहाँ तक चलता है कि स्थिति कभी-कभी विघटन के कगार तक पहुँच जाती है।

ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-१८६

नियमसार गाथा ६१

विगत पाँच गाथाओं में पाँच महाव्रतों की चर्चा की गई है; अब आगामी पाँच गाथाओं में पाँच समितियों की चर्चा करेंगे। इस ६१वीं गाथा में ईर्यासमिति नामक पहली समिति की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स।।६१।।

(हरिगीत)

जिन श्रमण धुरा प्रमाण भूलख चले प्रासुक मार्ग से।
दिन में करें विहार नित ही समिति ईर्या यह कही।।६१।।

जो श्रमण प्रासुक (निर्जन्तु) मार्ग पर दिन में धुरा प्रमाण अर्थात् चार हाथ जमीन देखकर चलते हैं; उन मुनिराजों के उक्त सावधानी पूर्वक होनेवाले गमन (विहार) और तत्संबंधी भावों को ईर्यासमिति कहते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ ईर्यासमिति का स्वरूप कहा गया है। जो परमसंयमी मुनिराज, देवदर्शन या गुरु से मिलने आदि के प्रशस्त प्रयोजनवश स्थावर-जंगम जीवों की रक्षा के हेतु से चार हाथ आगे मार्ग को देखते हुए दिन में विहार करते हैं; उनके ईर्यासमिति होती है।

यह व्यवहार समिति का स्वरूप है, अब आगे निश्चयसमिति का स्वरूप कहते हैं।

अभेद-अनुपचार रत्नत्रयमार्ग से परमधर्मी निजात्मा के प्रति सम्यक् इति-गति-परिणति ही निश्चय समिति है अथवा निजपरमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादि परमधर्मों की संहति-मिलन-संगठन ही निश्चयसमिति है।

इसप्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समिति के भेदों को जानकर उनमें से हे भव्यजीव ! परमनिश्चयसमिति को प्राप्त करो।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''भावलिंगी सन्त मुनियों को भी छठे गुणस्थान में सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा का भाव होता है। भगवान समवशरण में विराजते हैं, वहाँ उनके दर्शन करने के लिये जाने का भाव होता है, वह देवयात्रा का भाव है। गुरु विराजते हों, उनके पास श्रवण आदि करने के लिए जाने का विकल्प उठे, वह गुरुयात्रा है। ऐसे प्रयोजन के उद्देश्य से जो मुनिराज गमन करते हैं, तब चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर जीवों की रक्षा करते हुए चलते हैं; उनके ईर्यासमिति होती है।[१]

छठे गुणस्थान में निश्चयपूर्वक ऐसी व्यवहारसमिति होती है।[२]

व्यवहारसमिति में बाहर में रास्ता देखकर चलने की बात थी और यहाँ निश्चय में सम्यक्रत्नत्रय के मार्ग में परमधर्मी ऐसे अपने आत्मा के प्रति सम्यक्परिणति वह समिति है। अथवा आत्मा में सहज परमज्ञानादि परमधर्म प्रकट हुए हैं; उनकी संहति ही निश्चय समिति है। जो सहज सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रदशा प्रकटी है, उसकी आत्मा में लीनता निश्चयसमिति है।[३]

निश्चय और व्यवहार दोनों का ज्ञान कराया, किन्तु उन दोनों में से आदरणीय तो परमनिश्चयवीतरागीसमिति ही है, उसको भव्यजीवों प्राप्त करो। स्वरूप की वीतरागी-परिणति में ठहरो और जो राग हो, उसके मात्र ज्ञाता बने रहो।[४]

छठे-सातवें गुणस्थानवाले मुनि की शुद्धपरिणति तो निश्चयसमिति

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५२२
२. वही, पृष्ठ ५२३
३. वही, पृष्ठ ५२३-५२४
४. वही, पृष्ठ ५२४

है और छठे गुणस्थान में उठनेवाला विकल्प व्यवहारसमिति है। उन दोनों में से परमवीतरागी निश्चयसमिति को प्राप्त करो ह्न ऐसा उपदेश है।[५]''

इस गाथा और उसकी टीका में निश्चय-व्यवहार ईर्यासमिति का स्वरूप समझाया गया है। अपने आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की परिणति ही निश्चय ईर्यासमिति है और देवदर्शन, गुरुदर्शन, तीर्थदर्शन आदि के शुभ विकल्पपूर्वक त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा के भाव से चार हाथ आगे तक जमीन को देखकर दिन में विहार करना व्यवहार ईर्यासमिति है। अध्यात्मरस के रसिया टीकाकार मुनिराज टीका के अन्त में यह कहना नहीं भूले कि दोनों प्रकार की समितियों को भलीभांति जानकर परमनिश्चयसमिति को प्राप्त करो। तात्पर्य यह है कि **व्यवहार समिति तो पुण्यबंध का कारण है; किन्तु निश्चयसमिति बंध के अभाव का कारण है, मुक्ति का कारण है। अत: परम उपादेय तो वही है।।६१।।**

इस गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव चार छन्द लिखते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मंदाक्रांता)

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो।
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च स: सर्वदा मुक्त एव।।८१।।

(हरिगीत)

मुक्तिकान्ता की सखी जो समिति उसको जानकर।
जो संत कंचन-कामिनी के संग को परित्याग कर।।
चैतन्य में ही रमण करते नित्य निर्मल भाव से।
विलग जग से निजविहारी मुक्त ही हैं संत वे।।८१।।

इसप्रकार मुक्तिकान्ता की सखी परमसमिति को जानकर जो जीव भवभय करनेवाले कंचन-कामिनी के संग को छोड़कर, सहजविलासरूप अपूर्व अभेद चैतन्यचमत्कारमात्र में स्थित रहकर उसमें सम्यक् गति

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५२४

करते हैं अर्थात् सम्यक्रूप से परिणमित होते हैं; वे सर्वदा मुक्त ही हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि समिति मुक्तिरूपी पत्नी की सखी (सहेली) है और कंचन-कामिनी के त्यागी **निश्चय-व्यवहार समिति के धारक मुनिराज एक अपेक्षा से मुक्त ही हैं।।८१।।**

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति समितिरेषां शीलमूलं मुनीनां
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी।।८२।।

(हरिगीत)

जयवंत है यह समिति जो त्रस और थावर घात से।
संसारदावानल भयंकर क्लेश से अतिदूर है।।
मुनिजनों के शील की है मूल धोती पाप को।
यह मेघमाला सींचती जो पुण्यरूप अनाज को।।८२।।

जो समिति मुनिराजों के शील का मूल है, जो त्रस और स्थावर जीवों के घात से पूर्णत: दूर है, जो भवदावानल के परिणामरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली है और समस्त पुण्यरूपी अनाज के ढेर को पोषण देकर संतोष देनेवाली मेघमाला है ह्न ऐसी यह समिति जयवंत वर्तती है।

उक्त छन्द में त्रस और स्थावर जीवों के घात से अतिदूर समिति को मुनिराजों के शील का मूल कहा गया है। साथ में भवदावानल के ताप को दूर करनेवाली और पुण्य को प्राप्त करनेवाली बताया गया है।।८२।।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम्।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्ते:।।८३।।

(हरिगीत)

समिति विरहित काम रोगी जनों का दुर्भाग्य यह।
संसार-सागर में निरंतर जन्मते-मरते रहें॥
हे मुनिजनो ! तुम हृदयघर में सावधानी पूर्वक।
जगह समुचित सदा रखना मुक्ति कन्या के लिए॥८३॥

इस विश्व में यह सुनिश्चित ही है कि इस भवसागर में समिति से रहित, इच्छारूपी रोग से पीड़ित जनों का जन्म होता है। इसलिए हे मुनिराजो ! तुम अपने मनरूपी घरों में इस मुक्तिरूपी स्त्री के लिए आवास की व्यवस्था रखना, इसका सदा ध्यान रखना।

उक्त छन्द में टीकाकार मुनिराज मुनिराजों को सावधान कर रहे हैं कि समितियों की उपेक्षा करनेवाले संसार-सागर में गोते लगाते रहते हैं; **मुक्ति की प्राप्ति तो निश्चयसमितियों के पालकों को ही होती है॥८३॥**

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति॥८४॥

(दोहा)

जो पाले निश्चय समिति, निश्चित मुक्ति जाँहि।
समिति भ्रष्ट तो नियम से भटकें भव के माँहि॥८४॥

यदि जीव निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करता है, प्राप्त करता है, धारण करता है तो वह मुक्ति को अवश्य प्राप्त करता है, मोक्षरूप होता है; परन्तु अरे रे समिति के नाश से, अभाव से मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता, संसाररूप महासागर में भटकता रहता है, गोता लगाता रहता है।

इस छन्द में पूर्व छन्द की बात को ही दुहराया गया है कि निश्चय-समिति के धारक अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति करते हैं और समितियों की उपेक्षा करनेवाले भव-भव में भटकते हैं॥८४॥ ●

नियमसार गाथा ६२

विगत गाथा, उसकी टीका और उसमें समागत छन्दों में ईर्यासमिति का स्वरूप और महिमा बताने के बाद अब इस गाथा में भाषा समिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स॥६२॥

(हरिगीत)

परिहास चुगली और निन्दा तथा कर्कश बोलना।
यह त्यागना ही समिति दूजी स्व-पर हितकर बोलना॥६२॥

चुगली करना, हँसी उड़ाना, कठोर भाषा का प्रयोग करना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना ह्न इन कार्यों के त्यागी और स्वपरहितकारी वचन बोलनेवाले के भाषा समिति होती है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ भाषा समिति का स्वरूप कहा गया है।

चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए और राजा के कान तक पहुँचे हुए; **किसी एक पुरुष, एक कुटुम्ब या किसी एक गाँव को महाविपत्ति के कारणभूत वचनों को पैशून्य (चुगली) कहते हैं।**

कहीं, कभी, किंचित् परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किंचित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभ कर्म का कारण, पुरुष के मुख से विकार के साथ संबंधवाला हास्य कर्म है।

कान के छेद के पास पहुँचने मात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, ऐसे वचन कर्कश वचन हैं।

दूसरों में विद्यमान-अविद्यमान दोषों को कहनेवाले वचन परनिन्दा है और अपने विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति आत्मप्रशंसा है।

इन सब अप्रशस्त वचनों के त्यागपूर्वक स्व और पर को शुभ व शुद्ध परिणति के कारणभूत वचन भाषा समिति हैं।''

यद्यपि चुगली, हास्य, कर्कश, निन्दा, प्रशंसा ह्न ये शब्द सामान्य-जनों के लिए अत्यन्त सुपरिचित शब्द हैं; तथापि यहाँ टीका में उन्हें भी परिभाषित किया गया है। उक्त सभी प्रकार के स्व-पर अहितकारी अप्रशस्त वचनों के त्यागपूर्वक स्व-पर हितकारी प्रिय परिमित वचनों का उपयोग और तत्संबंधी भाव भाषासमिति हैं।।६२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।।२९।।[१]

(वीर)

जान लिये हैं सभी तत्त्व अर दूर सर्व सावद्यों से।
अपने हित में चित्त लगाकर सब प्रकार से शान्त हुए।।
जिनकी वाणी स्वपर हितकरी संकल्पों से मुक्त हुए।
मुक्ति भाजन क्यों न हो जब सब प्रकार से मुक्त हुए।।२९।।

जिन्होंने वस्तुस्वरूप को जान लिया है, जो सभी प्रकार के सावद्य (पापकर्म) से दूर हैं, जिन्होंने अपने चित्त को स्वहित में स्थापित किया है, जिनके प्रचारित होने से विकल्प शान्त हो गये हैं, जिनका बोलना स्व-परहित से सफल है और सभी प्रकार के संकल्पों से विशुद्ध हैं; ऐसे विमुक्त पुरुष इस लोक में मुक्ति के भाजन क्यों नहीं होंगे ?

गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन के इस छन्द में भाषासमिति के संबंध

१. आत्मानुशासन, छन्द २२६

में कुछ विशेष नहीं कहा गया है; अपितु सामान्यरूप से मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी मुनिवरों का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है।

कहा गया है कि वस्तुस्वरूप के जानकार, पापकर्मों से अत्यन्त दूर, अपने में ही मगन, शान्तचित्त, हित-मित-प्रिय वचनों से अलंकृत, भव-भोगों से विरक्त मुनिराज अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं।।२९।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम्।
अन्तैरप्यलं जल्पैः बहिर्ज्जल्पैश्च किं पुनः।।८५।।

(दोहा)

आत्मनिरत मुनिवरों के अन्तर्जल्प विरक्ति।
तब फिर क्यों होगी अरे बहिर्जल्प अनुरक्ति।।८५।।

परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत मनीषियों के जब अन्तर्जल्प से भी विरक्ति है तो फिर बहिर्जल्प की तो बात ही क्या करें; उनसे तो विरक्ति नियम से होगी ही।

उक्त छन्द में भी यही कहा गया है कि आत्मज्ञानी-ध्यानी मुनिराज अन्तर्बाह्य विकल्पों से पार पहुँच गये होते हैं।।८५।। ●

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है अथवा पर्याय की कर्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीवद्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो ?

ह्न क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८

नियमसार गाथा ६३

ईर्यासमिति और भाषासमिति के उपरान्त अब एषणासमिति की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी।।६३।।

(हरिगीत)

स्वयं करना कराना अनुमोदना से रहित जो।
निर्दोष प्रासुक भुक्ति ही है एषणा समिति अहो।।६३।।

स्वयं की कृत, कारित, अनुमोदना से रहित, पर के द्वारा दिया हुआ प्रासुक और प्रशस्त भोजन करनेरूप सम्यक् आहार ग्रहण एवं तत्संबंधी शुभभाव एषणासमिति है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ एषणासमिति का स्वरूप कहा है। वह इसप्रकार है ह्न

मन, वचन और काय ह्न इन तीनों का कृत, कारित और अनुमोदना ह्न इन तीनों से गुणा करने पर नौ भेद हो जाते हैं।

जिस भोजन में मुनिराजों की उक्त नौ प्रकारों की किसी भी रूप में संयुक्तता हो, वह भोजन विशुद्ध नहीं है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है। हरितकाय के सूक्ष्म प्राणियों के संचार से अगोचर अति प्रशस्त अन्न प्रासुक अन्न है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है।

पड़गाहन, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन-वचन-काय की शुद्धि और भिक्षा शुद्धि ह्न इन नवधा भक्ति से आदर करके; श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया, और क्षमा ह्न दाता के इन सात गुणों सहित शुद्ध योग्य आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया आहार जो परम तपोधन लेते हैं, उसे एषणासमिति कहते हैं।

यह व्यवहार एषणासमिति है। निश्चय एषणासमिति की तो ऐसी बात है कि जीव के परमार्थत: तो भोजन होता ही नहीं है। छह प्रकार का भोजन तो व्यवहार से संसारियों के ही होता है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''निर्दोष आहार-पानी लेने की वृत्ति वह एषणासमिति है। मुनि अपने लिए बनाया हुआ अन्न-पानी ग्रहण नहीं करते।

मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना ह्न इन नवकोटि से अशुद्ध आहारादि मुनिराज नहीं स्वीकार करते। वह तो प्रासुक अर्थात् अचित्त, जीव रहित भोजन और जल भी उष्ण लेते हैं।

प्रशस्त अर्थात् अच्छा, शास्त्र में जिसकी प्रशंसा की गई हो, व्यवहार में जो प्रमादादि अथवा रोग का निमित्त न हो, ऐसा भोजन ग्रहण करने का शुभभाव वह व्यवहार एषणासमिति है।

मुनिराज को अन्दर निश्चयस्वभाव का भान है, सहज दशा से भ्रमण करते हुए आहार मिले, उस समय खाने की क्रिया तो उसके अपने कारण से होती है, तब जो अन्दर में विकल्प होता है उसकी यहाँ बात है।[१]''

उक्त गाथा में एषणासमिति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। **जिस आहार से आहार ग्रहण करनेवाले मुनिराज का नवकोटि से किसी भी प्रकार का संबंध न हो; ऐसा अनुद्दिष्ट, प्रासुक आहार ४६ दोष और ३२ अन्तराय टालकर विधिपूर्वक ग्रहण करना एषणासमिति है।।६३।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज '**तथा चोक्तं ह्न** तथा कहा भी' ह्न ऐसा कहकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

णोकम्मकम्महारो लेप्याहारो य कवलमाहारो।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो।।३०।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५३५

(दोहा)

लेप कवल मन ओज अर कर्म और नो कर्म।
छह प्रकार आहार के कहे गये जिनधर्म ।।३०।।

नोकर्माहार, कर्माहार, लेपाहार, कवलाहार, ओजाहार और मनाहार ह्न इसप्रकार क्रम से आहार छह प्रकार का जानना ।।३०।।

अशुद्ध जीवों के विभावधर्म के संबंध में यह व्यवहारनय का उदाहरण है। अब निश्चयनय का उदाहरण कहा जाता है ह्न

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ।।३१।।[१]

(हरिगीत)

अरे भिक्षा मुनिवरों की एषणा से रहित हो।
वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ।।३१।।

एषणा (आहार की इच्छा) रहित आत्मा को युक्ताहार भी तप ही है और आत्मोपलब्धि के लिए प्रयत्नशील श्रमणों की भिक्षा भी एषणा रहित होती है। इसलिए वे श्रमण अनाहारी ही हैं।

प्रवचनसार की इस गाथा में यह कहा गया है कि श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है। पहली बात तो यह है कि उसका ममत्व शरीर पर न होने से वह उचित आहार ही ग्रहण करता है ह्न इसलिए युक्ताहारी है। दूसरी बात यह है कि 'आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही नहीं है' ह्न ऐसे परिणामरूप योग मुनिराजों के निरन्तर वर्तता है; इसलिए वह श्रमण योगी है, उसका आहार युक्ताहार है, योगी का आहार है।

तात्पर्य यह है कि वह **एषणासमितिपूर्वक आहार लेने से और अनशनस्वभावी होने से मुनिराज युक्ताहारी ही हैं।३१।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

१. प्रवचनसार, गाथा २२७

(मालिनी)

यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।३२।।[१]

(हरिगीत)

जो सभी के प्रति दया समता समाधि के भाव से।
नित्य पाले यम-नियम अर शान्त अन्तर बाह्य से।।
शास्त्र के अनुसार हित-मित असन निद्रा नाश से।
वे मुनीजन ही जला देते क्लेश के जंजाल को।।३२।।

जिन्होंने अध्यात्म का सार निश्चित किया है, समझा है; जो अत्यन्त यम-नियम सहित हैं; जिनका आत्मा भीतर-बाहर से शान्त हुआ है; जिन्हें समाधि प्रगट हुई है, परिणमित हुई है; जिनके हृदय में सभी जीवों के प्रति अनुकंपा है; जो शास्त्रानुसार हितकारी सीमित भोजन करनेवाले हैं; जिन्होंने निद्रा का नाश किया है; वे मुनिराज क्लेशजाल को समूल भस्म कर देते हैं।

इस छन्द का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मैं ज्ञानदर्शनस्वभावी हूँ, परमानन्द की मूर्ति हूँ, शुभाशुभ राग रहित त्रिकाली आत्मा हूँ, शरीर-वाणी आदि पदार्थों की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता, आहार का ग्रहण-त्याग मेरे स्वभाव में है ही नहीं'' ह्न इसप्रकार जिसने सभी पहलुओं से प्रथम आत्मा का निर्णय किया है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है। प्रथम ऐसे आत्मा का निर्णय करने के बाद स्वरूप में विशेष रमणता जिसने प्रकट की है, वह जीव अत्यन्त यम-नियम सहित है, स्वरूपरमणतारूप चारित्रयुक्त है।

जो बाहर से और अन्दर से शान्त हुआ है, जिसको समाधि परिणमी

१. आत्मानुशासन, श्लोक २२५

है, जिसको सब जीवों के प्रति अनुकम्पा है, जो शास्त्र की आज्ञानुसार हित-मित भोजी है, जिसने निद्रा का नाश किया है, वह आत्मलीन भावलिंगी मुनि क्लेशजाल का समूल नाश करता है।[१]

वे वीतरागी मुनि छठे गुणस्थान में आवें तब विकल्प उठे कि आहार ग्रहण करें। आहार भी भगवान वीतराग की आज्ञा प्रमाण शास्त्रानुसार हित-मित ही लेते हैं।

छठे-सातवें गुणस्थान में हजारों बार झूलते मुनि के छठे गुणस्थान में अल्प निद्रा होती है। छठी भूमिका में किंचित् निद्रा लेकर फिर तुरन्त ही अन्तर्मुहूर्त में सातवीं भूमिका में आ जाते हैं। मुनिराज घन्टे दो घन्टे निद्रित हो जावें ह्न ऐसा नहीं होता, कारण कि वे छठे गुणस्थान में थोड़े काल रहकर शीघ्र ही सातवें में आ जाते हैं।

इसप्रकार स्वरूप में उग्र लीनता द्वारा जिनको गहरी निद्रा का नाश हुआ है, वे मुनिराज क्लेशजाल को समूल नाश करके वीतराग होकर परमशान्तदशा को प्राप्त होते हैं।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छन्द में भी समितियों के धारी तपस्वी मुनिराजों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।।३२।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शालिनी)

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं
ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी
प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः।।८६।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५४०
२. वही, पृष्ठ ५४०-५४१

(हरिगीत)

भक्त के हस्ताग्र से परिशुद्ध भोजन प्राप्त कर।
परिपूर्ण ज्ञान प्रकाशमय निज आत्मा का ध्यान धर।।
इसतरह तप तप तपस्वी हैं निरन्तर निज में मगन।
मुक्तिरूपी अंगना को प्राप्त करते संतजन।।८६।।

भक्तों के हाथ के अग्रभाग से दिया गया भोजन लेकर, पूर्ण ज्ञान-प्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके; इसप्रकार सम्यक् तप को तपकर सच्चे तपस्वी संतजन दैदीप्यमान मुक्तिरूपी वारांगना (स्त्री) को प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चय-व्यवहार एषणासमिति के धनी तपस्वी मुनिराज मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।८६।। ●

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, लोभ छोड़ो। यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो। जो दु:खस्वरूप हैं, दु:खकर हैं, आत्मा का अहित करनेवाले हैं ह्न वे मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है। इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं ह्न ऐसे पुत्रादि चेतन एवं धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है। पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारंटी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे।

ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१२२

नियमसार गाथा ६४

विगत गाथा में एषणासमिति की चर्चा करने के उपरान्त अब इस गाथा में आदाननिक्षेपणसमिति की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा।।६४।।

(हरिगीत)

पुस्तक कमण्डल संत जन नित सावधानीपूर्वक।
आदाननिक्षेपणसमिति में ग्रहण-निक्षेपण करें।।६४।।

पुस्तक, कमण्डल आदि रखने-उठाने संबंधी प्रयत्न परिणाम आदाननिक्षेपणसमिति है ह्न ऐसा कहा गया है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा गया है। यह अपहृत संयमियों (व्यवहारसंयम या अपवादसंयम) को संयम और ज्ञानादिक के उपकरण उठाते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है।

उपेक्षा संयमियों (निश्चयसंयम-उत्सर्गसंयम) के पुस्तक व कमण्डलादि नहीं होते; क्योंकि वे परमजिनमुनि सम्पूर्णत: निष्पृह होते हैं; इसलिए वे बाह्य उपकरणों से रहित होते हैं।

निजपरमात्मतत्त्व को प्रकाशन करने में दक्ष आभ्यन्तर उपकरणरूप निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान के अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है।

अपहृत संयमधरों को परमागम के अर्थ का पुन: पुन: प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, कायविशुद्धिभूत शौच का उपकरण कमण्डलु है और संयम का उपकरण पीछी है।

इन उपकरणों को उठाते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली प्रयत्न-परिणामरूप विशुद्धि ही आदाननिक्षेपणसमिति है ह्न ऐसा शास्त्रों में कहा है।''

उक्त गाथा व उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अपवादसंयमवाले मुनि को अपहृतसंयमी कहते हैं। अन्तरभान-सहित रमणता तो प्रकटी है; किन्तु पुरुषार्थ की निर्बलता से विकल्प उठता है, अतः सातवीं भूमिका से च्युत हो जाते हैं, तब विकल्पयुक्त होने के कारण उन मुनि को अपहृतसंयमी कहते हैं।

अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, हीनसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ह्न इन सबका एक ही अर्थ है।

अन्दरस्वभाव प्रकट हुआ है वह निश्चय है और विकल्प ह्न राग उठता है वह व्यवहार है। श्रद्धा-ज्ञान का निश्चय तो चौथे गुणस्थान में ही प्रकट हो गया है, किन्तु चारित्र अपेक्षा से निर्विकल्प स्वरूपरमणता-रूप निश्चय सातवें गुणस्थान में होता है।

शुभोपयोगी मुनि को ह्न छठी भूमिका में वर्त्तते मुनि को संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण ह्न पीछी, शास्त्र और कमण्डलु रखते-उठाते समय विकल्प का प्रकार यहाँ बताया है।

सातवीं भूमिका में स्थिर हो गए हों उन्हें तो वे उपकरण होते नहीं, अर्थात् उन संबंधी विकल्प उनको उठता नहीं ह्न उपेक्षा वर्त्तती है; अतः उन्हें उपेक्षासंयमी कहा गया है।

उपेक्षासंयमवाले मुनि को उपेक्षासंयमी कहते हैं। उत्सर्ग, निश्चय नय, सर्वपरित्याग, उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग इन सबका एक अर्थ है। उपेक्षासंयमवाले मुनि अत्यन्त निस्पृह होते हैं।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब मुनिराज छठवें गुणस्थान

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५४५-५४६

में होते हैं; तब उनके पास पीछी, कमण्डलु और शास्त्र होते हैं, हो सकते हैं; क्योंकि पीछी के बिना अहिंसक आचरण, कमण्डल के बिना शौचादि की शुद्धि और शास्त्र के बिना स्वाध्याय संभव नहीं है।

इन तीनों को उपकरण कहा गया है। जब ये उपकरण उनके पास होंगे तो इनके उठाने-रखने में प्रमादवश या असावधानी के कारण किसी भी प्रकार के जीवों का घात न हो जावे ह्न इस बात की सावधानी रखना ही आदाननिक्षेपणसमिति है।।६४।।

इस ६४वीं गाथा को पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ।।८७।।

(हरिगीत)

उत्तम परमजिन मुनि के सुख-शान्ति अर मैत्री सहित।
आदाननिक्षेपण समिति सब समितियों में शोभती।।
हे भव्यजन ! तुम सदा ही इस समिति को धारण करो।
जिससे तुम्हें भी प्राप्त हो प्रियतम परम श्री कामिनी।।८७।।

उत्तम परमजिन मुनियों की यह आदाननिक्षेपण समिति सभी समितियों में शोभायमान होती है और इस समिति के साथ में उन मुनिराजों के शान्ति और मैत्री भी होते ही हैं। हे भव्यजनो ! तुम भी अपने हृदयकमल में उक्त समिति को धारण करो कि जिससे तुम भी परमश्री कामिनी के कंत हो जावोगे।

इस कलश में यही प्रेरणा दी गई है कि आप भी इस समिति को धारण करो, इससे तुम्हें भी मुक्तिवधू प्राप्त हो जावेगी।।८७।। ●

नियमसार गाथा ६५

विगत गाथा में आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में प्रतिष्ठापनसमिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स।।६५।।

(हरिगीत)

प्रतिष्ठापन समिति में उस भूमि पर मल मूत्र का।
क्षेपण करें जो गूढ प्रासुक और हो अवरोध बिन।।६५।।

परोपरोध से रहित, गूढ, प्रासुक भूमिप्रदेश में इसप्रकार मल-मूत्र का त्याग करना कि उससे किसी जीव का घात न हो, प्रतिष्ठापना समिति है।

दूसरे के द्वारा रोके जाने को परोपरोध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुनिराज ऐसे स्थान पर मल-मूत्र का क्षेपण करें कि जहाँ कोई रोक-टोक नहीं हो, थोड़ी-बहुत आड़ हो और उक्त भूमि पर जीव-जन्तु भी न हों।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह मुनियों के काय के मलादिक के त्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है। शुद्धनिश्चयनय से तो जीव के देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति ही नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से जीव के शरीर होता है; इसलिए देह होने से आहार ग्रहण भी होता ही है। आहार ग्रहण के कारण मल-मूत्रादिक भी होते ही हैं।

इसलिए संयमियों के मल-मूत्रादिक त्याग का स्थान जन्तुरहित और पर के उपरोध से रहित होता है।

उक्त स्थान पर शरीरधर्म करके पश्चात् परमसंयमी उस स्थान से

उत्तर दिशा की ओर कुछ डग जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर शरीर की क्रियाओं का और संसार के कारणभूत परिणामों और मन का उत्सर्ग करके निजात्मा को अव्यग्र होकर ध्याता है अथवा पुन: पुन: शरीर की अशुचिता को सर्व ओर से भाता है; उस परमसंयमी के प्रतिष्ठापनासमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों के कोई समिति नहीं होती।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''छठी-सातवीं भूमिका में झूलते मुनि, जहाँ किसी के द्वारा रोक-टोक न हो, जो गुप्त हो, और जहाँ त्रसादि जन्तुओं का संचार न हो; ऐसे प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग करते हैं, उनके प्रतिष्ठापन समिति होती है।[१]

जन्तुरहित तथा पर की रोक-टोक से रहित स्थान में शरीरधर्म ह्न मलत्याग की क्रिया करके फिर परमसंयमी मुनि उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ कदम चलकर उत्तरमुख खड़े रहकर, मन-वचन-काय की क्रियाओं का लक्ष छोड़कर, प्रतिष्ठापनसमिति के शुभविकल्प को भी छोड़कर, निजात्मा को अव्यग्र होकर ह्न एकाग्र होकर ध्याते हैं।

प्रतिष्ठापनसमिति का विकल्प व्यवहारसमिति है और उसे तोड़कर स्वरूप में लीन होना निश्चयसमिति है।[२]''

इस समिति में यह बताया गया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में निरन्तर आने-जानेवाले मुनिराज जब सातवें गुणस्थान में होते हैं; तब तो उनके निश्चयप्रतिष्ठापनासमिति होती है, परन्तु छठवें गुणस्थान में हों, तब उन्हें मल-मूत्रादि क्षेपण का विकल्प हो सकता है।

ऐसी स्थिति में उनके भाव और आचरण ऐसा होता है कि वे परोपरोध से रहित निर्जन्तु प्रासुक भूमि पर अच्छी तरह देखकर

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५५०
२. वही, पृष्ठ ५५१

सावधानीपूर्वक मल-मूत्र का क्षेपण करते हैं। उनकी उक्त क्रिया और तत्संबंधी शुभभाव व्यवहारप्रतिष्ठापनसमिति है।।६५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम्।
मधुसुखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेत:ह्न
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात्।।८८।।

(हरिगीत)

आत्मचिंतन में परायण और जिनमत में कुशल।
उन यतिवरों को यह समिति है मूल शिव साम्राज्य की।।
कामबाणों से विंधे हैं हृदय जिनके अरे उन।
मुनिवरों के यह समिति तो हमें दिखती ही नहीं।।८८।।

जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में परायण मुनिवरों को यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है; किन्तु कामदेव के तीक्ष्णबाणों से विंधे हुए हृदयवाले मुनिगणों को तो यह समिति होती ही नहीं है।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनसिद्धान्त में कुशल, उसके मर्म को गहराई से समझनेवाले एवं अपने आत्मा के चिन्तन में प्रवीण मुनिराजों को यह समिति मुक्ति का साम्राज्य दिलानेवाली है; किन्तु इच्छाओं के गुलाम कामान्ध लोगों के तो यह होती ही नहीं है।।८८।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम्।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततप:सिद्धिं याया: फलं किमपि ध्रुवम्।।८९।।

(रोला)

दीक्षाकान्तासखी परमप्रिय मुक्तिरमा को।
भवतपनाशक चन्द्रप्रभसम श्रेष्ठ समिति जो॥
उसे जानकर हे मुनि तुम जिनमत प्रतिपादित।
तप से होनेवाले फल को प्राप्त करोगे॥८९॥

जो मुक्तिरूपी अंगना को प्रिय है, भव-भव के भयरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान है, तेरी दीक्षारूपी कान्ता का सखी है; सभी समितियों में श्रेष्ठ इस समिति को प्रमोद से जानकर हे मुनिराज ! तुम जिनमत निरूपित तप से सिद्ध होनेवाले ध्रुव फल को प्राप्त करोगे।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि मुक्तिरूपी स्त्री को प्रिय, भवभय के अंधकार को नष्ट करने के लिए चन्द्रमा के समान एवं दीक्षारूपी कान्ता की सखी इस समिति को जानकर तुम जिनमत में निरूपित तप के फल में प्राप्त होनेवाले फलों को प्राप्त करोगे॥८९॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(द्रुतविलंबित)

समितिसंहतितः फलमुत्तमं सपदि याति मुनिः परमार्थतः।
न च मनोवचसामपि गोचरं किमपि केवलसौख्यसुधामयम्॥९०॥

(दोहा)

समिति सहित मुनिवरों को उत्तम फल अविलम्ब।
केवल सौख्य सुधामयी अकथित और अचिन्त्य॥९०॥

मुनिराज समिति की संगति द्वारा वस्तुतः मन के अचिन्त्य और वाणी से अकथनीय केवलसुखरूपी अमृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करते हैं।

इसमें भी यह कहा जा रहा है कि मुनिराज इस समिति के फल में अचिन्त्य और अकथनीय उत्तमसुख को प्राप्त करते हैं॥९०॥ ●

इस व्यवहारचारित्राधिकार के आरंभ से यहाँ तक अर्थात् ५६ से ६५वीं गाथा तक १० गाथाओं; उनकी संस्कृत टीका और उसमें समागत कलशों में पंचमहाव्रत और पाँच समितियों का निरूपण किया गया है।

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु को छहढाला में पण्डित दौलतरामजी ने अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार प्रस्तुत किया है ह्न

(हरिगीतिका)

षट् काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं।
अठ-दश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं॥१॥
अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तैं टलैं।
परमाद तजि चउ कर मही लखि, समिति ईर्ष्या तैं चलैं॥
जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं॥२॥
छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनैं घर अशन को।
लैं तप बढ़ावन हेत नहिं तन, पोषते तजि रसन को॥
शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन मल, मूत्र श्लेषम परिहरैं॥३॥[१]

मुनिराजों के द्वारा छह काय के जीवों के घात न होने से द्रव्यहिंसा तो सम्पूर्णतः टल ही जाती है; साथ ही भूमिकानुसार तीन कषायों के अभावरूप रागादिभावों के निवारण हो जाने से भावहिंसा भी अवतरित नहीं होती। इसप्रकार उनके अहिंसा महाव्रत भलीभाँति पलता है।

वे मुनिराज असत्यवचनों का उपयोग नहीं करते और बिना दिये जल और मिट्टी का भी ग्रहण नहीं करते तथा अठारह हजार प्रकार के शील धारण करके निरन्तर अपने आत्मा में ही रमे रहते हैं। इसप्रकार उनके सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत तथा ब्रह्मचर्यमहाव्रत पलता है।

१. छहढाला : छठवीं ढाल, १ से ३ छन्द तक

मिथ्यात्वादि १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रह और १० प्रकार के बाह्य परिग्रह ह्न इसप्रकार कुल २४ प्रकार के परिग्रहों के टल जाने से परिग्रह त्याग महाव्रत भी सहजता से पलता है।

वे मुनिराज प्रमाद को छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलते हैं; इसप्रकार ईर्यासमिति का पालन करते हैं तथा सम्पूर्ण जगत का हित करनेवाले, अहित को हरनेवाले, सब प्रकार के संशय को दूर करनेवाले, कानों को सुख देनेवाले एवं भ्रमरूपी रोग को हरनेवाले कथन उनके मुखरूपी चन्द्रमा से अमृत के समान झरते हैं ह्न यह उनकी भाषासमिति का स्वरूप है।

मुनिराज उत्तम कुलवाले श्रावक के घर छयालीस दोषों से रहित, शरीर के पोषण के लिए नहीं, अपितु तप की वृद्धि के लिए नीरस भोजन लेते हैं ह्न यह उनकी एषणासमिति है।

शौच, ज्ञान और संयम के उपकरण पीछी, पुस्तक और कमण्डलु को देखकर ग्रहण करते हैं और देखकर ही रखते हैं ह्न यह उनकी आदाननिक्षेपणसमिति है तथा मल, मूत्र एवं कफ आदि पदार्थ निर्जन्तु स्थान देखकर क्षेपण करते हैं ह्न यह उनकी प्रतिष्ठापना नाम की समिति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि छहढालाकार ने पंचमहाव्रत और पाँच समितियों का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत कर दिया है। ●

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें। स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

ह्न धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१८५

नियमसार गाथा ६६

व्यवहारचारित्राधिकार की विगत १० गाथाओं में पाँच महाव्रत और पाँच समितियों का विवेचन करने के उपरान्त अब तीन गुप्तियों की चर्चा करते हैं। उनमें से पहली गाथा में पहली गुप्ति मनोगुप्ति का स्वरूप बताया गया है। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।।६६।।

(हरिगीत)

मोह राग द्वेष संज्ञा कलुषता के भाव जो।
इन सभी का परिहार मनगुप्ति कहा व्यवहार से।।६६।।

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग-द्वेष आदि अशुभभावों के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है। क्रोध, मान, माया और लोभ ह्न इन चार कषायों से चित्त की क्षुब्धता कलुषता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से मोह दो प्रकार का है।

आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा के भेद से संज्ञा चार प्रकार की है। प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग के भेद से राग दो प्रकार का है। **असह्य जनों या असह्य पदार्थों के प्रति बैर का परिणाम द्वेष है।**

इत्यादि अशुभपरिणामप्रत्ययों का परिहार ही व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनि के मुनिपने के योग्य शुद्धपरिणति के साथ वर्त्तता हुआ

जो हठरहित मन-आश्रित, वचन-आश्रित अथवा काय-आश्रित शुभोपयोग है उसको व्यवहारगुप्ति कहते हैं, कारण कि शुभोपयोग में मन, वचन, काय के साथ अशुभोपयोगरूप जुड़ान नहीं है। **शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है, उसे तो व्यवहारगुप्ति भी नहीं कहते।**[१]

दर्शनमोह के अभाव के बिना व्यवहारसमिति अथवा गुप्ति नहीं हो सकती, इसीलिए व्यवहारगुप्ति की प्रथम गाथा में मुनि के मोह का परिहार लिया है।

संसार के कारणों से आत्मा का गोपन करना वह गुप्ति है।[२]

स्वभाव के भान की भूमिका में अशुभ छूटकर, जो मन-वचन-काय की तरफ के परिणाम के गोपन का शुभविकल्प है, उसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं। इस गुप्ति का अंश अपनी भूमिका प्रमाण पाँचवें गुणस्थानवाले के भी होता है।[३]''

इस गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कषायभावरूप कलुषता; आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप संज्ञा; राग-द्वेष-मोह आदि अशुभभावों के अभाव को मनोगुप्ति कहा गया है।।६६।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(वसन्ततिलका)

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।
बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वियतस्य।।९१।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५५८
२. वही, पृष्ठ ५५९
३. वही, पृष्ठ ५६०

(रोला)

जो जिनेन्द्र के चरणों को स्मरण करे नित।
बाह्य और आन्तरिक ग्रंथ से सदा रहित हैं।।
परमागम के अर्थों में मन चिन्तन रत है।
उन जितेन्द्रियों के तो गुप्ति सदा ही होगी।।९१।।

जिनका मन परमागम के अर्थों से चिन्तन युक्त है, जो विजितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य व अंतरंग परिग्रहों से रहित हैं और जिनेन्द्र भगवान के चरणों के स्मरण संयुक्त है; उन मुनिराजों के गुप्ति सदा ही होगी।

इस छन्द में यही कहा गया है कि परमागम के विषयों में चिन्तनरत, अन्तर्बाह्य परिग्रह से रहित, जिनेन्द्र भक्ति में मग्न, जितेन्द्रयी सन्तों के मनोगुप्ति सदा होगी ही।।९१।। ●

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं; क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है, परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों ह्न यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट लेने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का विस्तार वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है। **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१७८**

नियमसार गाथा ६७

विगत गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनगुप्ति का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा।।६७।।

(हरिगीत)

पापकारण राज दारा चोर भोजन की कथा।
मृषा भाषण त्याग लक्षण है वचन की गुप्ति का।।६७।।

पाप के हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भक्तकथा आदि रूप वचनों का परिहार अथवा आहारादिक की निवृत्तिरूप वचन वचन-गुप्ति है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है। बड़ी हुई कामवासनावाले कामुकजनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली महिलाओं की संयोग-वियोजजनित विविध वचन रचना ही स्त्रीकथा है; राजाओं का युद्धहेतुक कथन राजकथा है; चोरों का चोर्यप्रयोग संबंधी कथन चोरकथा है और अत्यन्त बढी हुई भोजन की प्रीतिपूर्वक मैदा की पूड़ी, चीनी, दही, मिश्री आदि अनेकप्रकार के भोजन की प्रशंसा भक्तकथा अर्थात् भोजनकथा है ह्न इन समस्त कथाओं का परिहार वचनगुप्ति है।

असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है अथवा अन्य अप्रशस्तवचनों की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है।''

यहाँ वचनगुप्ति के स्वरूप में असत्य और अप्रशस्त बोलने का निषेध तो किया ही गया है, साथ में चार प्रकार की विकथाओं के करने का भी निषेध किया गया है।

उक्त चार प्रकार की विकथाओं का पढना-पढाना, सुनना-सुनाना, लिखना-लिखाना आदि तत्संबंधी सभी प्रवृत्तियों का निषेध है।।६७।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है'** ह्न ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषत:।
एष योग: समासेन प्रदीप: परमात्मन:।।३३।।[१]

(सोरठा)

छोड़ो अन्तर्जल्प बहिर्जल्प को छोड़कर।
दीपक आतमराम यही योग संक्षेप में।।३३।।

इसप्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर अन्तर्वचनों को संपूर्णत: छोड़े। यह संक्षेप से योग है, समाधि है। यह योग परमात्मा को प्रकाशित करने वाला दीपक है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ मुनि की वचनगुप्ति की व्याख्या चल रही है। आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाली वस्तु है, वाणी तथा पुण्य-पाप के भावों का लक्ष छोड़कर उस आत्मा में एकाग्र होना वह वचनगुप्ति है। **बाह्यवचन को त्यागकर अर्थात् उधर का लक्ष छोड़कर तत्पश्चात् अन्तर्वचन जो पुण्य-पाप का उत्थान-विकल्प उसको भी सम्पूर्णरीत्या छोड़कर, आत्मा को ध्याने का नाम सच्ची वचनगुप्ति है।**[२]

यह योग परमात्मा अर्थात् चैतन्यस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करने के लिए दीपक है। ऐसे परमात्मस्वरूप के भान बिना अन्य किसी भी प्रकार से मन-वचन-काय की क्रिया अथवा पुण्य का विकल्प करे, यह योग नहीं है।[३]''

---

१. आचार्य पूज्यपाद : समाधितंत्र, श्लोक १७
२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५६३
३. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५६४

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि अन्तर्बाह्य वचन विकल्पों के त्यागपूर्वक अपने से जुड़ना योग है, समाधि है। यह योग और समाधि परमात्मा को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है। तात्पर्य यह है कि **आत्मा और परमात्मा के दर्शन इस योग से ही होते हैं, समाधि से ही होते हैं। यही योग व समाधि वचन विकल्पों से परे होने से वचनगुप्ति है॥३३॥**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(मन्दाक्रान्ता)

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिमत्कारमेकम्।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघतारूपः ॥९२॥

(रोला)

भवभयकारी वाणी तज शुध सहज विलसते।
एकमात्र कर ध्यान नित्य चित् चमत्कार का।
पापतिमिर का नाश सहज महिमा निजसुख की।
मुक्तिपुरी को प्राप्त करें भविजीव निरन्तर॥९२॥

भवभय करनेवाली संपूर्ण वाणी को छोड़कर, शुद्ध सहज विलासमान एक चैतन्यचमत्कार का ध्यान करके, फिर पापरूपी अंधकार समूह को नष्ट करके भव्यजीव सहज महिमावंत अतीन्द्रिय आनन्द और परमसुख की खानरूप मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि **वचनगुप्ति के बल से संसार-भ्रमण का भय पैदा करनेवाली वाणी को छोड़कर, शुद्धात्मा का ध्यान करके यह भव्यजीव पापरूप अंधकार का नाश कर सहज महिमावंत सुख की खान मुक्ति को प्राप्त करता है॥९२॥** ●

नियमसार गाथा ६८

विगत गाथा में वचनगुप्ति की चर्चा करके अब इस गाथा में कायगुप्ति की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह्न

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया।
कायकिरिया णियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति॥६८॥

(हरिगीत)

मारन प्रसारन बंध छेदन और आकुंचन सभी।
कायिक क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति जिन कही॥६८॥

बंधन, छेदन, मारन (मार डालना) आकुंचन (सिकुड़ना) तथा प्रसारण (फैलना) आदि क्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है। किसी पुरुष को बंधन का अंतरंग निमित्त कर्म है और बहिरंग हेतु किसी का काय व्यापार है; छेदन का भी अंतरंग कारण कर्मोदय है और बहिरंग कारण प्रमत्त जीव की काय की क्रिया है। मारन का भी अंतरंग हेतु (आयु) का क्षय है और बहिरंग कारण किसी की शारीरिक विकृति है। आकुंचन, प्रसारण आदि का हेतु संकोच-विस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है। ह्न इन काय क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति है।''

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि **बंधन, छेदन, मारन, संकुचन और प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति ही कायगुप्ति है॥६८॥**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहः।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥९३॥

(दोहा)

जो ध्यावे शुद्धात्मा तज कर काय विकार।
जन्म सफल है उसी का शेष सभी संसार॥९३॥

जो काय विकार को छोड़कर बारम्बार शुद्धात्मा की संभावना (सम्यक् भावना) करता है; इस संसार में उसी का जन्म सफल है।

इस छन्द में भी अत्यन्त संक्षेप में यही कहा है कि जो व्यक्ति शारीरिक विकृतियों से वे विरक्त हो अपने आत्मा में अनुरक्त होता है, उसी के ध्यान में मग्न रहता है; इस लोक में उसी का जन्म सफल है॥९३॥ ●

'अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख-दु:ख भी अकेले ही भोगना होगा' ह्न इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिंतन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए। जरा गहराई से विचार करें तो सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा।

आपको यह शिकायत हो कि सुख-दु:ख, जीवन-मरण सबकुछ आपको अकेले ही भोगने पड़ते हैं; कोई सगा-संबंधी भी साथ नहीं देता। क्या आपकी यह शिकायत उचित है ?

जरा इस पर गौर कीजिए कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता, तब 'साथ नहीं देता' ह्न यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा।

ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-६७

नियमसार गाथा ६९

विगत तीन गाथाओं में क्रमश: व्यवहार मनोगुप्ति, व्यवहार वचन-गुप्ति और व्यवहार कायगुप्ति का स्वरूप बताया गया है और इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

जा रायादि णियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादि णियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती॥६९॥

(हरिगीत)

मनोगुप्ति हृदय से रागादि का मिटना अहा।
वचनगुप्ति मौन अथवा असत् न कहना कहा॥६९॥

मन में से जो रागादि से निवृत्ति होती है, उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिक से निवृत्ति अथवा मौन वचनगुप्ति है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है। सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण, अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान।

समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत ही वचनगुप्ति है। मूर्त द्रव्यों में चेतना का अभाव होने से अमूर्तद्रव्यों का इन्द्रियज्ञान के अगोचर होने से मूर्त और अमूर्त ह्न दोनों प्रकार के द्रव्यों के प्रति वचन-प्रवृत्ति नहीं होती। इसप्रकार निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''मुनि विचार करते हैं कि जड़ में चेतना नहीं है तो फिर किसके साथ बात करें अर्थात् बात करने का विकल्प करें और सामने आत्मा

अरूपी है, वह दृष्टिगोचर होता नहीं; अतः ऐसी दशा में मैं किसके साथ बात करूँ। जाननेवाला जो सामनेवाला जीव है, वह तो दिखलाई नहीं देता और दिखलाई देनेवाला जो जड़-पुद्गल है, वह कुछ जानता नहीं है ह्न इसप्रकार दोनों के साथ वचनप्रवृत्ति नहीं बन सकती।

आत्मा के भानसहित ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में, वचन की तरफ का लक्ष छोड़कर, लीन होना वह निश्चयवचनगुप्ति है। मौन अर्थात् भाषारहित तो एकेन्द्रिय भी है, किन्तु उसे आत्मा का भान नहीं है। **यहाँ तो आत्मा के भानसहित स्वरूपस्थिरता होने पर विकल्प न उठे, उसे मौन कहते हैं।**[१]''

इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। **अखण्ड अद्वैत त्रिकालीध्रुव आत्मा का ध्यान ही निश्चय मनोगुप्ति है और मौन अथवा असत्य भाषण के सम्पूर्णतः त्यागपूर्वक आत्मध्यान की अवस्था ही निश्चय वचनगुप्ति है।।६९।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ।।९४।।

(हरिगीत)

अप्रशस्त और प्रशस्त सब मनवचन के समुदाय को।
तज आत्मनिष्ठा में चतुर पापाटवी दाहक मुनी।।
चिन्मात्र चिन्तामणि शुद्धाशुद्ध विरहित प्राप्त कर।
अनंतदर्शनज्ञानसुखमय मुक्ति की प्राप्ति करें।।९४।।

पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान योगी तिलक मुनिराज प्रशस्त और अप्रशस्त मन व वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७३-५७४

में परायण, शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित निर्दोष चैतन्यचिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्तचतुष्टयात्मक जीवनमुक्ति को प्राप्त करते हैं।

उक्त छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''**यहाँ पुण्य और पाप दोनों ही पापरूपी अटवी हैं ह्न ऐसा समझना।** पुण्य-पापरूपी अरण्य को जलाने में अग्निसमान मुनिशिरोमणि, शुभ-अशुभ दोनों को छोड़कर ज्ञानानन्द स्वभाव में तत्पर रहते हैं। जिनको 'आत्मा द्रव्य से त्रिकाल शुद्ध है और पर्याय में अशुद्ध है', ऐसे शुद्ध और अशुद्धनय के विकल्प नहीं उठते; वे मुनि शुद्ध और अशुद्धनय के विकल्प से रहित निर्दोष चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्त-चतुष्टयात्मक - अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-वीर्यात्मक स्वरूप के साथ सर्वदा स्थित जीवन्मुक्ति को पाते हैं।[१]

कोई कहे कि **मन-वचन-शरीर को अधिकार में रखना ह्न नियंत्रण में रखना वह गुप्ति है, तो यह ठीक नहीं है। शरीरादि जड़ हैं, उन्हें नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के ऊपर आत्मा का अधिकार नहीं है। यहाँ तो शरीरादि की तरफ का लक्ष छोड़कर, पुण्य-पाप के भाव का भी लक्ष त्यागकर आत्मा में एकाग्र होने को गुप्ति कहा है ह्न धर्म कहा है।**[२]

लोग कहते हैं कि सामायिक करने के लिए कहो न ?

भाई ! प्रथम सच्ची समझ तो कर! जिसे अभी सच्ची समझ भी नहीं है उसे सामायिक कहाँ से होगी? सामायिक तो व्रत है, वह पाँचवें गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान के हुए बिना पाँचवाँ कहाँ से आवेगा? इसलिए यहाँ सर्वप्रथम आत्मा की सच्ची समझ करने की बात चलती है।[३]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति के धनी मुनिराज अनन्तचतुष्टय से संयुक्त मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।९४।। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७४-५७५ २. वही, पृष्ठ ५७७ ३. वही, पृष्ठ ५७९

नियमसार गाथा ७०

विगत गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में निश्चय कायगुप्ति की चर्चा करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा।।७०।।

(हरिगीत)

दैहिक क्रिया की निर्वृत्ति तनगुप्ति कायोत्सर्ग है।
या निवृत्ति हिंसादि की ही कायगुप्ति जानना।।७०।।

दैहिक क्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग ही काय संबंधी गुप्ति है अथवा हिंसादि की निवृत्ति को शरीरगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह निश्चय कायगुप्ति के स्वरूप का कथन है। सभी लोगों को शरीर संबंधी बहुत सी क्रियायें होती हैं। उनकी निवृत्ति ही कायोत्सर्ग है और वही कायगुप्ति है अथवा पाँच स्थावर जीवों और त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्ति ही कायगुप्ति है।

जो परम संयम को धारण करनेवाले परमजिन योगीश्वर हैं; वे अपने चैतन्यरूप शरीर में अपने चैतन्यरूप शरीर से प्रविष्ट हो गये हैं। उनकी यह अकंपदशा ही निश्चय कायगुप्ति है।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चैतन्य जाननेवाला-देखनेवाला है। वह अपना (आत्मा का) शरीर है, यह हाड़-माँस से निर्मित शरीर अपना शरीर नहीं है। स्वभाव में जिनकी लीनता है ह्न ऐसे जो परमजिनयोगीश्वर चैतन्य ज्ञानानन्दरूप

शरीर में अपने ज्ञाता-दृष्टास्वरूप शरीर से प्रवेश कर गए, उनकी अकम्पदशा ही निश्चयकायगुप्ति है।[१]

आत्मा का यह ज्ञानानन्दस्वरूप शरीर आत्मा से कभी छूटता नहीं। अपने ज्ञानानन्द शरीर में (द्रव्य में) जो परममुनिवर अपने ज्ञान शरीर से (शुद्ध पर्याय से) प्रवेश कर गए - आत्मस्वरूप में लीन हो गए, उन्हें निश्चयकायगुप्ति है।[२]''

इस गाथा में मात्र यह कहा गया है कि वस्तुत: कायोत्सर्ग ही निश्चय कायगुप्ति है। यह कायोत्सर्ग की स्थिति त्रस-स्थावर जीवों के घात से सर्वथा रहित होती है; इसलिए हिंसादि की निवृत्ति को भी कायगुप्ति कहा जाता है। **मुनिराजों की अकंपध्यानावस्था ही वस्तुत: कायगुप्ति है।।७०।।**

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव **'तथा तत्त्वानुशासन में भी कहा है' ह्न** ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्ग: स उच्यते।।३४।।[३]

(सोरठा)

दैहिक क्रिया कलाप भव के कारण भाव सब।
तज निज आतम माँहि रहना कायोत्सर्ग है।।३४।।

दैहिक क्रियाओं और संसार के कारणभूत जीवों को छोड़कर अव्यग्र रूप से **निज आत्मा में स्थित रहना ही कायोत्सर्ग कहलाता है।**

इस छन्द में कायोत्सर्ग का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि भव के कारणरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप भावों और शारीरिक क्रियाकलापों को छोड़कर **अपने आत्मा में स्थिर रहना ही कायोत्सर्ग है।।३४।।**

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७८
२. वही, पृष्ठ ५७९
३. तत्त्वानुशासन

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः ।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ।।९५।।

(दोहा)

परिस्पन्दमय देह यह मैं हूँ अपरिस्पन्द ।
यह मेरी ह्न व्यवहार यह तजू इसे अविलम्ब ।।९५ ।।

मैं अपरिस्पन्दरूप हूँ और यह देह परिस्पन्दात्मक है। यह देह व्यवहार से मेरी कही जाती है; इसलिए मैं इस देह की विकृति को छोड़ता हूँ।

परिस्पन्द का अर्थ होता है कंपन। मेरा स्वभाव अकंप है, मैं अकंपन हूँ और यह शरीर कंपनशील स्वभाव का है।

यद्यपि इस शरीर से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है; तथापि व्यवहार से यह मेरा कहा जाता रहा है। अत: मैं अब इस व्यवहार से भी मुक्त होता हूँ ह्न इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक काय का ममत्व छोड़कर आत्मसन्मुख होना कायोत्सर्ग है।

यही भाव है इस कलश का ।।९५।। ●

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष को तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्ववाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं।

ह्न सत्य की खोज, पृष्ठ-२३३

नियमसार गाथा ७१

व्यवहारचारित्राधिकार में अब तक पंच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों की चर्चा हुई; अब अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों की चर्चा आरंभ करते हैं। सबसे पहले अरहंत परमेष्ठी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिस अदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ।।७१ ।।

(हरिगीत)

अरिहंत केवलज्ञान आदि गुणों से संयुक्त हैं।
घनघाति कर्मों से रहित चौतीस अतिशय युक्त हैं।।७१।।

घनघाति कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों से सहित और चौंतीस अतिशयों से संयुक्त ह्न ऐसे अरहंत होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अरिहंत भगवान के स्वरूप का कथन है। आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक घातिकर्मों से रहित; पूर्व में अर्जित चार घाति कर्मों के नाश से प्राप्त, **तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति और केवलसुख से सहित; स्वेद रहित, मल रहित इत्यादि चौंतीस अतिशयों के निवास स्थान ह्न ऐसे भगवंत अरहंत होते हैं।**''

इस गाथा में तीर्थंकर अरहंत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए तीन बातें कही गई हैं। **पहली** बात तो यह है कि वे घातिकर्मों से रहित हैं, **दूसरे** उनके अनंतचतुष्टय प्रगट हो गये हैं और **तीसरी** बात यह है कि उनके चौंतीस अतिशय होते हैं। घातिकर्म के अभाव में ही अनंतचतुष्टय प्रगट होते हैं। अत: नास्ति से घाति कर्मों का अभाव कहा और अस्ति अनंतचतुष्टय से सहित की बात कही। अत: एक प्रकार से दोनों एक

ही बात है। चौंतीस अतिशय तो पुण्य के फल हैं। उनसे आत्मा का कोई सीधा संबंध नहीं है।

इसप्रकार कुल मिलाकर यही सुनिश्चित है कि अरहंत भगवान अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ह्न इन चार अनंत चतुष्टयों से संपन्न होते हैं।।७१।।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव पाँच छन्द लिखते हैं, जिनमें भगवान पद्मप्रभु की स्तुति की गई है। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः।।९६।।

(हरिगीत)

विकसित कमलवत नेत्र पुण्य निवास जिनका गोत्र है।
हैं पण्डिताम्बुज सूर्य मुनिजन विपिन चैत्र वसंत हैं।।
जो कर्मसेना शत्रु जिनका सर्वहितकर चरित है।
वे सुत सुसीमा पद्मप्रभजिन विदित तन सर्वत्र हैं।।९६।।

सर्वजनविदित जिनका शरीर है, प्रफुल्लित कमलों के समान जिनके नेत्र हैं, पुण्य का आवास ही जिनका गोत्र है, पण्डितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए जो सूर्य हैं, मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र माह अर्थात् वसंत ऋतु के समान हैं, कर्म की सेना के जो शत्रु हैं और जिनका चारित्र सबके हितरूप हैं; वे श्रीमती सुसीमा माता के सुपुत्र श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान जयवंत हैं।

अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली इस गाथा के बाद जो पाँच छन्द दिये गये हैं; उनमें पद्मप्रभ भगवान की स्तुति की गई है। इसका क्या औचित्य है ह्न यह समझ में नहीं आता। इसप्रकार का विकल्प आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी को भी आया होगा।

यही कारण है कि वे इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार करते हैं ह्न

''इस नियमसार शास्त्र के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव निर्ग्रन्थ मुनि थे। छठे-सातवें गुणस्थान में आनन्दकन्द स्वभाव में झूलते थे। उनका नाम पद्मप्रभ था; अतः वे इस अरहन्त भगवान की गाथा में उनके नाम पर ही जिनका नाम था ह्न ऐसे छठे पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान की पाँच श्लोकों द्वारा यहाँ स्तुति करते हैं।[१]''

नाम की समानता एक आध्यात्मिक संत के लिए क्या महत्त्व रखती है; फिर भी जबतक कोई अन्य समर्थ कारण समझ में नहीं आता, तबतक इसे स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है। पद्मप्रभ के स्थान पर अरहंत परमेष्ठी की भी स्तुति की जा सकती थी।।९६।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पदनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः।।९७।।

(हरिगीत)

जो गुणों के समुदाय एवं पुण्य कमलों के रवि।
कामना के कल्पतरु अर कामगज को केशरी।।
देवेन्द्र जिनको नमें वे जयवन्त श्री जिनराजजी।
हे कर्मतरु के बीजनाशक तजा भव तरु आपने।।९७।।

जो कामदेवरूपी हाथी को मारने के लिए सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, जो सभी गुणों के समाज (समुदाय) हैं, जो सभी इच्छित पदार्थों को देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्मों के बीज को नष्ट कर दिया है; जिनके चरणों में सुरेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है; वे जिनराज जयवंत हैं।।९७।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५८७

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जितरतिपतिचाप: सर्वविद्याप्रदीप:
परिणतसुखरूप: पापकीनाशरूप: ।
हतभवपरिताप: श्रीपदानम्रभूप:
स जयति जितकोप: प्रह्वविद्वत्कलाप: ।।९८ ।।

(हरिगीत)

दुष्कर्म के यमराज जीता काम शर को आपने।
राजेन्द्र चरणों में नमें रिपु क्रोध जीता आपने।।
सर्वविद्याप्रकाशक भवताप नाशक आप हो।
अरहंत जिन जयवंत जिनको सदा विद्वद्जन नमें।।९८।।

कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है, सभी विद्याओं के जो दीपक (प्रकाशक) हैं, जो सुखरूप से परिणमित हुए हैं, जो पापों के नाश के लिए यमराज हैं, जिन्होंने संसारताप का नाश किया है, महाराजा जिनके चरणों में नमते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और विद्वानों का समुदाय जिनके आगे झुक जाता है, नत हो जाता है; वे अरहंत भगवान जयवंत हैं।।९८।।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

जयति विदितमोक्ष: पद्मपत्रायताक्ष:
प्रजितदुरितकक्ष: प्रास्तकंदर्पपक्ष: ।
पदयुगनतयक्ष: तत्त्वविज्ञानदक्ष:
कृतबुधजनशिक्षा प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षा ।।९९ ।।

(हरिगीत)

पद्मपत्रों सम नयन दुष्कर्म से जो पार हैं।
दक्ष हैं विज्ञान में अर यक्षगण जिनको नमें।।
बुधजनों के गुरु एवं मुक्ति जिनकी विदित है।
कामनाशक जगप्रकाशक जगत में जयवंत हैं।।९९।।

जिनका मोक्ष सर्वविदित है, जिनके नेत्र कमल पत्र के समान बड़े-बड़े हैं, पाप की भूमिका को जिन्होंने पार कर लिया है, कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है, यक्ष जिनके चरण युगल में नमस्कार करते हैं, तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष हैं, बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा दी है और निर्वाण दीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है; वे अरहंत जिन जयवंत हैं।।९९।।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

मदननगसुरेश: कान्तकायप्रदेश:
पदविनतयमीश: प्रास्तकीनाशपाश: ।
दुरघवनहुताश: कीर्तिसंपूरिताश:
जयति जगदधीश: चारुपद्मप्रभेश: ।।१०० ।।

(हरिगीत)

मदनगज को वज्रधर पर मदन सम सौन्दर्य है।
मुनिगण नमें नित चरण में यमराज नाशक शौर्य है।।
पापवन को अनल जिनकी कीर्ति दशदिश व्याप्त है।
जगतपति जिन पद्मप्रभ नित जगत में जयवंत हैं।।१००।।

कामदेवरूपी पर्वत को तोड़ देने के लिए जो वज्रधर इन्द्र के समान हैं, जिनका काय प्रदेश (शरीर) मनोहर है, मुनिवर जिनके चरणों में नमते हैं, यमराज के पाश का जिन्होंने नाश किया है, दुष्ट पापरूपी वन को जलाने के लिए जो अग्नि है, सभी दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है और जगत के जो अधीश हैं; वे सुन्दर पद्मप्रभेश जिनदेव जयवंत हैं।।१००।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों छन्दों में मुख्यरूप से अरहंत परमेष्ठी के ही गीत गाये हैं; अरहंत परमेष्ठी के बहाने आत्मा के ही गीत गाये हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने भी यह महसूस किया था। यही कारण है कि पाँचों छन्दों के अन्त में वे अपने अभिप्राय को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ अरहन्त की व्याख्या में आत्मा के गुण गाए हैं। जिन्हें अरहन्त बनना हो, आत्मा की स्वतंत्रता प्रकट करनी हो, उन्हें 'अपना आत्मा भी ऐसा ही है' ह्न इसप्रकार जानना चाहिए। अरहन्त और सिद्ध होने का यही उपाय है ह्न अन्य कोई उपाय नहीं। अरहन्त आदि पाँच पद यह आत्मा के लिए व्यवहार हैं, निश्चय से आत्मा में ही पाँच पद हैं। इस आत्मा के लिए पंचपरमेष्ठी व्यवहार हैं ह्न निमित्त हैं।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों छन्दों में एकप्रकार से अरहंत परमेष्ठी की ही स्तुति की गई है।

टीकाकार मुनिराज एक आध्यात्मिक संत होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी हैं। यही कारण है कि वे प्रत्येक गाथा की टीका गद्य में लिखने के उपरान्त न केवल अन्य आचार्यों से संबंधित उद्धरण ही प्रस्तुत करते हैं; अपितु कम से कम एक या एक से अधिक छन्द स्वयं भी लिखते हैं।

उनके उक्त छन्दों में संबंधित विषयवस्तु का स्पष्टीकरण कम और भक्ति रस अधिक मुखरित होता है; साथ में काव्यगत सौन्दर्य भी दृष्टि-गोचर होता है। उपमा और रूपक अलंकारों की तो झड़ी लग रही है।

बीच में तीन छन्दों में तो पद्मप्रभ भगवान का कहीं नाम भी नहीं है; किन्तु आदि के छन्द में **सुसीमा सुपुत्र:** और अन्त के छन्द में **पद्मप्रभेश:** ह्न इन दो पदों से ही यह पता चलता है कि यह पद्मप्रभ जिनेन्द्र की स्तुति है।

उक्त छन्दों में समागत उल्लेखों के आधार पर ही यह समझ लिया गया है कि पाँचों छन्दों में पद्मप्रभ जिनेन्द्र की ही स्तुति की गई है।

जो भी हो, पर उनके द्वारा लिखे गये भक्ति के छन्दों में भक्ति के साथ-साथ अध्यात्म का पुट भी रहता ही है। ●

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५९६-५९७

नियमसार गाथा ७२

विगत गाथा में अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।७२।।

(हरिगीत)

नष्ट कीने अष्ट विध विधि स्वयं में एकाग्र हो।
अष्ट गुण से सहित सिध थित हुए हैं लोकाग्र में।।७२।।

अष्टकर्मों के बंध को नष्ट करनेवाले, आठ महागुणों से सम्पन्न, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य ह्न ऐसे सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ सिद्धि के परम्परा हेतुभूत भगवान सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है।

सम्पूर्णत: अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्पों से रहित, निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से अष्टकर्मों के बंधन को नष्ट करनेवाले; क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों की पुष्टि से तुष्ट; विशिष्ट गुणों के धारक होने से तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम; तीन लोक के शिखर के आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोकाग्र में स्थित; व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय से च्युत न होने के कारण नित्य ह्न ऐसे वे भगवन्त सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।''

गाथा में सिद्ध भगवान की विशेषताओं को बताने के लिए जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है; टीका में उक्त सभी विशेषणों की हेतु सहित सार्थकता सिद्ध की गई है।

कहा गया है कि आठ कर्मों के बंधन से मुक्त सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से सम्पन्न हैं; लोकाग्र में स्थित हैं, परम हैं, नित्य

हैं, लौटकर कभी संसार में नहीं आवेंगे। उन्होंने यह अवस्था ध्यान-ध्येय के विकल्पों से पार अन्तर्मुख शुक्लध्यान के बल से प्राप्त की है। वे सिद्ध भगवान हमारे आदर्श हैं; क्योंकि हमें उन्हीं जैसा बनना है।।७२।।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह्न

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ।।१०१।।

(दोहा)

निश्चय से निज में रहें नित्य सिद्ध भगवान।
तीन लोक चूडामणी यह व्यवहार बखान।।१०१।।

व्यवहारनय से ज्ञानपुंज वे सिद्ध भगवान तीन लोकरूपी पर्वत की चोटी के ठोस चूड़ामणि हैं और निश्चयनय से सहज परमचैतन्य चिन्तामणि स्वरूप नित्य शुद्ध निजरूप में वास करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वे सिद्ध भगवान निश्चय से तो निज में ही रहते हैं; पर व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि वे लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला पर विराजमान हैं।।१०१।।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान्।
सिद्धान् नष्टानष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान्।।१०२।।

(वीर)

देहमुक्त लोकाग्र शिखर पर रहे नित्य अन्तर्यामी।
अष्ट कर्म तो नष्ट किये पर मुक्ति सुन्दरी के स्वामी।।

सर्व दोष से मुक्त हुए पर सर्वसिद्धि के हैं दातार।
सर्वसिद्धि की प्राप्ति हेतु मैं करूँ वन्दना बारंबार।।१०२।।

जो सर्व दोषों को नष्ट करके देह से मुक्त होकर तीन लोक के शिखर पर विराजमान हैं, जो अनुपम निर्मल ज्ञान-दर्शनशक्ति से युक्त हैं; जिन्होंने आठों कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को नष्ट किया है; जो नित्य शुद्ध हैं, अनंत हैं, अव्याबाध हैं, तीन लोक के तिलक हैं और मुक्ति सुन्दरी के स्वामी हैं; उन सभी सिद्धों को सिद्धि की कामना से नमस्कार करता हूँ।

उक्त छन्द में सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनका वास्तविक स्वरूप यह है कि वे सर्व दोषों से मुक्त हैं, देह से भी मुक्त हो गये हैं और लोकाग्र में स्थित हैं। उनके ज्ञान-दर्शनादि सभी गुणों का परिणमन पूर्ण निर्मल हो गया है और वे आठों कर्मों की १४८ प्रकृतियों से पूर्णतः मुक्त हैं। ऐसे सिद्ध भगवान संख्या में अनंत हैं, प्रत्येक में अनंत-अनंत गुण हैं, उन्हें अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो गई है; अब उसमें अनंत काल में कभी कोई बाधा आनेवाली नहीं है। **मैं भी उन जैसा ही बनना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई चाह नहीं है। अतः मैं उन्हें पूर्णतः निस्वार्थ भाव से नमस्कार करता हूँ।।१०२।।**

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः।
नष्टानष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः ।।१०३।।

(दोहा)

जो स्वरूप में थिर रहे शुद्ध अष्ट गुणवान।
नष्ट किये विधि अष्ट जिन नमों सिद्ध भगवान।।१०३।।

जो निज स्वरूप में स्थित हैं, शुद्ध हैं; जिन्होंने अष्टगुणरूपी सम्पत्ति प्राप्त की है। अष्ट कर्मों का नाश किया है; उन सिद्ध भगवन्तों को मैं बार-बार वंदन करता हूँ।।१०३।। ●

नियमसार गाथा ७३

विगत गाथा में सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।७३।।

(हरिगीत)

पंचेन्द्रिय गजमदगलन हरि मुनि धीर गुण गंभीर अर।
परिपूर्ण पंचाचार से आचार्य होते हैं सदा।।७३।।

पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुणों से गंभीर मुनिराज आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथियों के अभिमान को दलन कर देने में दक्ष; सभी प्रकार के घोर उपसर्ग पर विजय प्राप्त करनेवाले धीर एवं गुणों में गंभीर ह्न इसप्रकार के लक्षणों से लक्षित मुनिराज आचार्य भगवन्त होते हैं।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, पर की क्रिया से तथा पुण्य-पाप के विकार से भिन्न है ह्न ऐसा ज्ञान प्रकट होना **ज्ञानाचार** है; शुद्ध निर्विकल्प स्वभाव की प्रतीति प्रकट होना **दर्शनाचार** है; स्वभाव के भानसहित अन्तर वीतरागी लीनता प्रकट होना **चारित्राचार** है; इच्छा-निरोधरूप तप अथवा त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से वीतरागीदशा का

प्रतपन होना **तपाचार** है; तथा आत्मा का बल अर्थात् अंतरंग गुणों को विकसित करनेवाला पुरुषार्थ **वीर्याचार** है। इन पाँचों आचारों से आचार्य भगवान परिपूर्ण होते हैं।[१]

जो अन्दर स्वरूप में लीन हैं, पाँच इन्द्रियरूपी हाथी को अर्थात् पाँच इन्द्रियों के लक्ष से होनेवाले विकार को चूर्ण करने में निपुण हैं; वे ही सच्चे आचार्य हैं।

समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्तकर्त्ता होने से आचार्य भगवान धीर और गुणगम्भीर हैं। बाहर में घोर उपसर्ग आ पड़े, प्रतिकूलता के प्रसंग आ जावें; तथापि ज्ञानानन्दस्वरूप के परमशान्तरस में लीन रहने के कारण आचार्यदेव अत्यन्त धीर होते हैं।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में पंचाचार के धनी, पंचेन्द्रियजयी, उपसर्गविजेता और धीर-गंभीर आचार्यदेव के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।।७३।।

इसके बाद **'तथा श्री वादिराजदेव के द्वारा भी कहा गया है'** ह्न ऐसा कहकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्।
स्फाराचंचलयोगचंचुरधिय: सूरीनुदंचद्गुणान्
अंचामो भवदु:खसंचयभिदे भक्तिक्रियाचंचव: ।।३५।।[३]

(हरिगीत)

अकिंचनता के धनी परवीण पंचाचार में।
अर जितकषायी निपुणबुद्धि हैं समाधि योग में।।
ज्ञानबल से बताते जो पंच अस्तिकाय हम।
उन्हें पूजें भवदुखों से मुक्त होने के लिए।।३५।।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६०६-६०७
२. वही, पृष्ठ ६०७
३. विषापहार स्तोत्र

पंचाचारपरायण, अकिंचनता के स्वामी, कषायभावों को नष्ट करनेवाले और विकसित स्थिर समाधि में निपुणबुद्धिवाले आचार्यदेव परिणमित ज्ञान के बल से पंचास्तिकाय के स्वरूप को समझाते हैं।

उन उछलते हुए अनंत गुणों के धनी आचार्य भगवन्तों को सांसारिक दु:खों की राशि को भेदने के लिए, भक्तिक्रिया में कुशल हम लोग पूजते हैं।।३५।।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह्न

''आचार्यपद में गुण की पर्यायें विशेष विकसित हैं। यद्यपि सामान्य आचरण तो सभी मुनियों का समान होता है, किन्तु **आचार्य के ज्ञान के क्षयोपशम की विशेषता, विचक्षणता, संघ के नायक होने की कुशलता, पंचाचार आचरण कराने में निपुणता तथा दीक्षा-शिक्षा देना आदि उनकी विशेषताएँ हैं।**

ऐसे आचार्यों को **भक्तिक्रिया में कुशल भक्त हम अपनी भव-दु:खराशि को भेदने के लिए पूजते हैं।**[१]''

इस छन्द में सभी प्रकार के सभी परिग्रहों से रहित अकिंचन, पंचाचारों के धनी, आत्मध्यान में निपुण आचार्यों को षट्द्रव्यों के स्वरूप का निरूपक बताया गया है; साथ में निर्मल पर्याय से परिणमित गुणोंवाले आचार्य भगवंतों को भवदुख निवारण हेतु भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है।

इसके बाद **'तथा हि'** लिखकर एक छन्द वे स्वयं भी लिखते हैं, जिसमें महामुनि चन्द्रकीर्तिजी की वंदना की गई है।

वह छन्द इसप्रकार है ह्न

(हरिणी)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम्।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६१०

शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं
निरुपमिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः।।१०४।।

(हरिगीत)

सब इन्द्रियों के सहारे से रहित आकुलता रहित।
स्वहित में नित हैं निरत मैत्री दया दम के धनी।।
मुक्ति के जो हेतु शम, दम, नियम के आवास जो।
उन चन्द्रकीर्ति महामुनि का हृदय वंदन योग्य है।।१०४।।

सभी इन्द्रियों के आलंबन से रहित; अनाकुल; स्वहित में निरत, शुद्ध; मुक्ति के कारण; शम, दम और यम के आवास; मित्रता, दया और दम के मंदिर; श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का अनुपम मन वंदनीय है।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रीचन्द्रकीर्ति मुनिराज को वंदनीय बता रहे हैं, उनकी वंदना कर रहे हैं।

ये चन्द्रकीर्ति मुनिराज कौन हैं ?

यद्यपि इस संदर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है; तथापि यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि वे पद्मप्रभमलधारिदेव के गुरु रहे होंगे या फिर उस समय के विशेष प्रभावशाली सन्त होंगे।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में एक चन्द्रकीर्ति मुनिराज का उल्लेख है; जिन्हें मलधारिदेव के शिष्य और दिवाकरनंदि का गुरु बताया गया है। हो सकता है कि उक्त मलधारिदेव टीकाकार मलधारिदेव से भिन्न हों।[१]

जो भी हो, पर यहाँ उन्हें जितेन्द्रिय, शमी, दमी, यमी और सभी प्राणियों से मैत्रीभाव रखनेवाले दयालु संत बताया गया है।।१०४।। ●

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग-२, पृष्ठ २७५

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो ! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है; इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वयं अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरंजन हो जाओगे। **ह्न बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७१**

नियमसार गाथा ७४

विगत गाथा में आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति।।७४।।

(हरिगीत)

रतन त्रय संयुक्त अर आकांक्षाओं से रहित।
तत्त्वार्थ के उपदेश में जो शूर वे पाठक मुनी।।७४।।

रत्नत्रय से संयुक्त, जिनेन्द्रकथित पदार्थों को समझाने में शूरवीर और निकांक्षभावनावाले मुनिराज उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह अध्यापक अर्थात् उपाध्याय नामक परमगुरु के स्वरूप का कथन है। अविचलित, अखण्ड, अद्वैत परमचिद्रूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप शुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयवाले; जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि सभी पदार्थों का उपदेश देने में शूरवीर; समस्त परिग्रह के परित्यागस्वभावी निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न होनेवाले, परमवीतरागसुखामृत के पान के सन्मुख होने से निष्कांक्षभावनावाले मुनिराज जैनियों में उपाध्याय होते हैं।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''आत्मा अखण्ड एवं मात्र ज्ञानरूप है, वह अपने परमचैतन्यरूप से कभी चलित नहीं होता। ऐसे आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, यथार्थ ज्ञान और उस परमचैतन्यरूप आत्मा में रमणतारूप अनुष्ठान-निर्विकल्प

लीनतारूप चारित्र उपाध्याय परमेष्ठी के होता है।[१]

जिनेन्द्रभगवान के मुखकमल में से निकले हुए जीवादि नवपदार्थ, सातत्त्व, छहद्रव्य के उपदेश करने में उपाध्याय शूरवीर होते हैं।[२]

उपाध्याय ज्ञान-दर्शन-सुख आदि अनन्त गुणों का पिण्ड ऐसा जो जीव ह्न उसे जीवरूप से समझाते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्न इन पाँच द्रव्यों को अजीवरूप से जैसे हैं, वैसे समझाते हैं। पुण्य और पाप को आस्रवरूप से समझाते हैं। आत्मा में शुद्धि के प्रकट होने और अशुद्धि के रुकने को संवर कहते हैं। शुद्धि की एकदेशवृद्धि और अशुद्धि की एकदेशहानि को निर्जरा कहते हैं। आत्मा में परिपूर्ण शुद्धता होने को मोक्ष कहते हैं। इसप्रकार उपाध्याय सर्वज्ञ-वीतराग-कथित जीवादि पदार्थों को समझाने में ह्न उपदेश देने में शूरवीर होते हैं।[३]

आत्मा निरंजनस्वभाव स्वरस का कन्द है, उसमें से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत के सन्मुख हैं, इसलिए उपाध्याय नि:कांक्षभावना सहित हैं। दिगम्बर धर्म में उपाध्याय इस लक्षण द्वारा लक्षित होते हैं।[४]''

उक्त गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित, सभी प्रकार की आकांक्षाओं से रहित और वस्तुस्वरूप को समझाने में शूरवीर मुनिराज उपाध्याय कहे जाते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी मुनिसंघ में अध्यापन का कार्य करते हैं।।७४।।**

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान्।
उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः।।१०५।।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६१५
२. वही, पृष्ठ ६१६
३. वही, पृष्ठ ६१६
४. वही, पृष्ठ ६१७-६१८

(दोहा)

वंदे बारम्बार हम भव्यकमल के सूर्य।
उपदेशक तत्त्वार्थ के उपाध्याय वैडूर्य॥१०५॥

रत्नत्रयमय, शुद्ध, भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य और उपदेश देनेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों की मैं नित्य बारम्बार वंदना करता हूँ।

इस छन्द में संतों को स्वाध्याय करानेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है॥१०५॥ ●

समवशरण में भी तो बाग-बगीचें हैं, नृत्यशालाएँ-नाट्य-शालाएँ हैं, उनका दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं बनता है; अपितु दिव्यध्वनि में आनेवाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्यग्दर्शन का देशनालब्धिरूप निमित्त है।

रंगारंग के कार्यक्रम में तो राग-रंग में ही निमित्त बनते हैं, वीतरागतारूप धर्म के निमित्त तो वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं।

अत: सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत इन महोत्सवों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हों। तदर्थ शुद्धात्मा के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए।

अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए।

ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-७२-७३

नियमसार गाथा ७५

विगत गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में साधु परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराणसयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति॥७५॥

(हरिगीत)

आराधना अनुरक्त नित व्यापार से भी मुक्त हैं।
जिनमार्ग में सब साधुजन निर्मोह हैं निर्ग्रन्थ हैं॥७५॥

सभी प्रकार के व्यापार से विमुक्त, चार प्रकार की आराधनाओं में सदा रक्त (लीन) निर्ग्रन्थ और निर्मोह साधु परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह परमतपश्चरण में निरन्तर अखण्डरूप से लीन सर्व साधुओं के स्वरूप का व्याख्यान है।

साधु परमेष्ठी, परमतपस्वी महापुरुष होने से त्रिकालनिरावरण निरंजन परमपंचमभाव की भावना में परिणमित होने के कारण समस्त बाह्य-व्यापार से मुक्त हैं; ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परमतप नामक चार आराधनाओं में सदा अनुरक्त हैं; समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ हैं; तथा सदा निरंजन निजकारण समयसार के स्वरूप के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से विरुद्ध मिथ्यादर्शन, ज्ञान और आचरण का अभाव होने से पूर्णत: निर्मोह होते हैं।

ऐसे सभी साधु, परमनिर्माण सुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर की रजपुंज के सुवर्ण वर्णवाले अलंकार को देखने में कौतूहल बुद्धिवाले होते हैं।''

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''साधु का किसी प्रकार भी शरीर-मन-वाणी के व्यापार में जुड़ान नहीं होता, वे उनकी हलन-चलन क्रियाओं के ज्ञाता तो हैं, पर कर्त्ता नहीं; इसलिए उनको समस्त व्यापार रहित कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं में साधु तत्पर होते हैं। बाह्य में वस्त्र-पात्र इत्यादि बहिरङ्ग परिग्रह तथा अन्दर में मिथ्यात्व-रागादि अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होने से साधु निर्ग्रन्थ होते हैं। मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों का नाश किया है, इसलिए साधु निर्मोह होते हैं।[१]

वीतराग शासन में तो अकेले विचरण करने वाले को जिनकल्पी और मुनियों के समुदाय में विचरने वाले को स्थविरकल्पी कहते हैं। दोनों ही प्रकार के मुनि आत्मभान तथा वीतरागी रमणता सहित नग्न ही होते हैं।[२]

जिसकी अन्तरङ्ग से मिथ्यात्व और राग-द्वेष की ग्रन्थि भिद गई है, उसे निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं। दया-दानादि का विकल्प भी अपना स्वरूप नहीं है ह्न ऐसा साधु मानते हैं। उस विकल्प की साधु को पकड़ नहीं होती।[३]

त्रिकाली कारणसमयसारस्वरूप भगवान आत्मा की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और उसमें रमणतारूप सच्चा आचरण मोक्षमार्ग है और उससे प्रतिपक्ष मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसारमार्ग है। पुण्य से धर्म माने, पर का कर्त्तापना माने तथा व्यवहार से ह्न शुभराग से लाभ माने वह मिथ्यादर्शन है। ऐसा मिथ्यात्व मुनि के नहीं होता तथा उनको मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का भी अभाव होता है।[४]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२०
२. वही, पृष्ठ ६२०
३. वही, पृष्ठ ६२१-६२२
४. वही, पृष्ठ ६२२

इस गाथा और उसकी टीका में साधु परमेष्ठी को परमतपस्वी महापुरुष कहा गया है; क्योंकि आचार्य और उपाध्याय तो कदाचित् संघ की व्यवस्था, प्रशासन और पठन-पाठन, अध्यापन में व्यस्त रहते हैं; किन्तु सामान्य साधु तो निरंतर आत्मसाधना में ही मग्न रहते हैं; बाह्य व्यापार से सर्वथा मुक्त ही रहते हैं। निरन्तर चार प्रकार की आराधना में ही तत्पर रहनेवाले सर्व साधु आचार्य-उपाध्याय की अपेक्षा अधिक निर्मोही और पूर्णत: निर्ग्रन्थ होते हैं।।७५।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैह्न

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात्।
मंक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मन: साधो: ।।१०६।।

(दोहा)

भव सुख से जो विमुख हैं सर्व संग से मुक्त।
उनका मन अभिवंद्य है जो निज में अनुरक्त।।१०६।।

भववाले अर्थात् संसारी जीवों के भवसुख से जो विमुख हैं और सर्वपरिग्रह के संबंध से मुक्त हैं ह्न ऐसे सर्व साधुओं का मन हमारे द्वारा वंदनीय है। हे साधुओ ! उस मन को शीघ्र ही निजात्मा में मग्न करो।

इस छन्द में पंचेन्द्रिय संबंधी सांसारिक सुखों के त्यागी, अंतरंग और बहिरंग ह्न सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित सर्व साधुओं के मन को वंदनीय बताया गया है और सभी साधुओं से स्वयं के पवित्र मन को स्वयं के आत्मा में लगाने का अनुरोध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि स्वयं के आत्मा में लगा मन ही पवित्र होता है।।१०६।। ●

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है। **ह्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२**

नियमसार गाथा ७६

गाथा ५६ से आरंभ होनेवाले इस व्यवहारचारित्राधिकार में अबतक विगत २० गाथाओं में क्रमश: अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यासमिति आदि पाँच समिति और मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति ह्न इसप्रकार कुल मिलाकर मुनिराजों के होनेवाले १३ प्रकार के चारित्र का निरूपण किया गया है। तदुपरान्त पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझाया गया है।

अब इस ७६वीं गाथा में व्यवहारचारित्राधिकार का समापन करते हुए कहते हैं कि अब आगे के अधिकारों में निश्चयचारित्र का निरूपण करेंगे।

गाथा मूलत: इसप्रकार है ह्न

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।

(हरिगीत)

इसतरह की भावना व्यवहार से चारित्र है।
अब कहूँगा मैं अरे निश्चयनयाश्रित चरण को।।७६।।

इसप्रकार की भावना में व्यवहारनय संबंधी चारित्र है और अब आगे निश्चयनय संबंधी चारित्र की चर्चा करूँगा।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''यह व्यवहारचारित्राधिकार के व्याख्यान का उपसंहार और निश्चय चारित्राधिकार आरंभ करने की सूचना का कथन है।

व्यवहारनय के अभिप्राय से पूर्वोक्त पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ और निश्चय-व्यवहाररूप तीन गुप्तियाँ तथा पंचपरमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त अतिप्रशस्त शुभ भावना परमचारित्र है।

अब आगे कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में परम पंचमभाव में लीन, पंचमगति के हेतुभूत, शुद्धनिश्चयनयात्मक परमचारित्र देखने योग्य है।''

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''महाव्रत, समिति आदि में जो स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प वीतरागता प्रगटी है, वह निश्चय है और जो शुभविकल्प उठता है, वह व्यवहार है, बंध का कारण है, और मोक्ष का बाधक है।[१]

आत्मा अखण्ड चैतन्य ज्ञायक है, उसके भान होने के पश्चात् जो शुभवृत्ति रही, उसे व्यवहार कहते हैं। मिथ्यादृष्टि को निश्चय-व्यवहार में से एक भी नहीं होता।[२]

जिसमें क्षायिकभाव का भी अवलम्बन नहीं, जिसमें औदयिक आदि चार भावों का भी सहारा नहीं; ऐसे त्रिकाल निरपेक्ष परम-पारिणामिकभाव का अवलम्बन लेकर उसमें लीन होना, निश्चय अर्थात् सच्चा चारित्र है। यह निश्चयचारित्र पंचमगति अर्थात् मोक्ष का कारण है।

वास्तव में तो निश्चयचारित्र भी मोक्षगति का निमित्तकारण है। मोक्ष का सच्चा उपादानकारण तो त्रिकाली परमपारिणामिकभाव ही है।[३]''

यह गाथा व्यवहारचारित्र अधिकार के समापन एवं परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार के आरंभ के संधिकाल की गाथा है।

इसमें मात्र यह सूचना दी गई है कि पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और पंच परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला व्यवहार-चारित्राधिकार समाप्त हो रहा है और आगे के अधिकारों में जो भी निरूपण होगा, वह सब निश्चयचारित्र की मुख्यता से होगा।।७६।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **'तथा मार्गप्रकाश नामक शास्त्र में भी कहा गया है'** ह्न ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२६
२. वही, पृष्ठ ६२७
३. वही, पृष्ठ ६२७

(वंशस्थ)

कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ।।३६।।

(हरिगीत)

कोठार के भीतर पड़े ज्यों बीज उग सकते नहीं।
बस उसतरह चारित्र बिन दृग-ज्ञान फल सकते नहीं।।
असुर मानव देव भी थुति करें जिस चारित्र की।
मैं करूँ वंदन नित्य बारंबार उस चारित्र को।।३६।।

जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में पड़े हुए बीज के समान है; देव, असुर और मानवों से स्तवन किये गये उस चारित्र को मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बोधिबीज हैं, उस बीज को उगावे तो चारित्ररूपी वृक्ष होवे और तब उसका वास्तविक फल प्राप्त हो। आत्मारूपी कोठार में सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप बीज तो है; परन्तु चारित्ररूपी वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ ह्न फल नहीं आया।[१]

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए मार्ग के अलावा कोई योग (ध्यान-प्राणायाम) करे तो वह सब थोथा है, मिथ्यादृष्टि की कल्पनामात्र है, उससे आत्मकल्याण होना संभव नहीं है।[२]

इसप्रकार आत्मा के स्वभाव को तो न मानें और योग के बखेड़े में पड़ जायेगा तो ज्ञान का परिणमन अनुक्रम से हीन होता जायेगा और एकेन्द्रिय बन जायेगा; चतुर्गति में भ्रमण करके हैरान हो जायेगा।[३]''

यद्यपि यह बात तो जिनवाणी में अनेक स्थानों पर प्राप्त हो जाती है

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६२८
२. वही, पृष्ठ ६२९
३. वही, पृष्ठ ६२९

कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता; तथापि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार कोठार में रखा बीज उगता नहीं, बढता नहीं, फलता भी नहीं है। उगने, बढने और फलने के लिए उसे उपजाऊ मिट्टीवाले खेत में बोना आवश्यक है, उसे आवश्यक खाद-पानी दिया जाना भी आवश्यक है।

उसीप्रकार चारित्र को धारण किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार में रखे हुए बीज के समान निष्फल हैं, मुक्तिरूपी फल को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है। इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से मण्डित जीवों को जल्दी से जल्दी सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए।।३६।।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ।।१०७।।

(अडिल्ल)

आत्मरमणतारूप चरण ही शील है।
निश्चय का यह कथन शील शिवमूल है।।
शुभाचरण मय चरण परम्परा हेतु है।
सूरिवचन यह सदा धर्म का मूल है।।१०७।।

आचार्यों ने शील को मुक्तिसुन्दरी के अनंगसुख का मूल कहा है और व्यवहारचारित्र को भी उसका परम्परा कारण कहा है।

अनंग का अर्थ कामदेव भी होता है और अंगरहित अर्थात् अशरीरी भी होता है। यद्यपि लोक में सुन्दरियों का सुख काममूलक होता है; तथापि यहाँ यह कहा जा रहा है कि शील अर्थात् निश्चयचारित्रधारियों को मुक्तिसुन्दरी का अनंग (अशरीरी) सुख प्राप्त होता है।

यह एक विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है; क्योंकि इसमें विरोध

का आभास तो हो रहा है, पर विरोध है नहीं।

निश्चयचारित्र अर्थात् शीलधारियों को किसी कामिनी के काम-वासना संबंधी सुख प्राप्त होने में विरोध है, विरोधाभास है; परन्तु उक्त विरोध का परिहार यह है कि मुक्तिसुन्दरी का अनंग सुख अर्थात् मुक्ति में प्राप्त होने वाला अशरीरी अतीन्द्रिय सुख शीलधारियों को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित निश्चय सम्यक्-चारित्र धारकों को मुक्ति की प्राप्ति होती है, मुक्ति में प्राप्त होनेवाले अनंत अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है।।१०७।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में व्यवहार चारित्राधिकार नामक चौथा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** •

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है ह्न ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३**

नियमसार पद्यानुवाद

(१)
जीवाधिकार

वर नंत दर्शनज्ञानमय जिनवीर को नमकर कहूँ।
यह नियमसार जु केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित।।१।।

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल।
है मार्ग मोक्ष उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल।।२।।

सद् ज्ञान-दर्शन-चरण ही हैं 'नियम' जानो नियम से।
विपरीत का परिहार होता सार इस शुभ वचन से।।३।।

है नियम मोक्ष उपाय उसका फल परम निर्वाण है।
इन ज्ञान-दर्शन-चरण त्रय का भिन्न-भिन्न विधान है।।४।।

इन आप्त-आगम-तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
सम्पूर्ण दोषों से रहित अर सकल गुणमय आप्त है।।५।।

भय भूँख चिन्ता राग रुष रुज स्वेद जन्म जरा मरण।
रति अरति निद्रा मोह विस्मय खेद मद तृष दोष हैं।।६।।

सम्पूर्ण दोषों से रहित सर्वज्ञता से सहित जो।
बस वे ही हैं परमातमा अन कोई परमातम नहीं।।७।।

पूरवापर दोष विरहित वचन जिनवर देव के।
आगम कहे है उन्हीं में तत्त्वारथों का विवेचन।।८।।

विविध गुणपर्याय से संयुक्त धर्माधर्म नभ।
अर जीव पुद्गल काल को ही यहाँ तत्त्वारथ कहा।।९।।

जीव है उपयोगमय उपयोग दर्शन ज्ञान है।
स्वभाव और विभाव इस विधि ज्ञान दोय प्रकार है।।१०।।

अतीन्द्रिय असहाय केवलज्ञान ज्ञान स्वभाव है।
सम्यक् असम्यक् पने से यह द्विविध ज्ञान विभाव है।।११।।

मतिश्रुतावधि मन:पर्यय चार सम्यग्ज्ञान हैं।
कुमति कुश्रुत अर कुवधि ये तीन मिथ्याज्ञान हैं।।१२।।

स्वभाव और विभाव दर्शन भी कहा दो रूप में।
पर अतीन्द्रिय असहाय केवल स्वभावदर्शन ही कहा।।१३।।

चक्षु अचक्षु अवधि त्रय दर्शन विभाव कहे गये।
पर्याय स्वपरापेक्ष अर निरपेक्ष द्विविध प्रकार है।।१४।।

नर नारकी तिर्यंच सुर पर्यय विभाव कही गईं।
कर्मोपधि निरपेक्ष सुध पर्यय स्वभाव कही गई।।१५।।

कर्मभूमिज भोगभूमिज मानवों के भेद हैं।
अर सात नरकों की अपेक्षा सप्तविध नारक कहे।।१६।।

चतुर्दश तिर्यंच एवं देव चार प्रकार के।
इन सभी का विस्तार जानो अरे लोक विभाग से।।१७।।

यह जीव करता-भोगता जड़कर्म का व्यवहार से।
किन्तु कर्मजभाव का कर्ता कहा परमार्थ से।।१८।।

द्रव्यनय की दृष्टि से जिय अन्य है पर्याय से।
पर्यायनय की दृष्टि से संयुक्त है पर्याय से।।१९।।

(२)
अजीवाधिकार

द्विविध पुद्गल द्रव्य है स्कंध अणु के भेद से।
द्विविध परमाणु कहे छह भेद हैं स्कंध के।।२०।।

अतिथूल थूल रु थूल-सूक्षम सूक्ष्म-थूल रु सूक्ष्म अर।
अतिसूक्ष्म ये छह भेद पृथ्वी आदि पुद्गल खंध के।।२१।।

भूमि भूधर आदि को अति थूल-थूल कहा गया।
घी तेल और जलादि को ही थूल खंध कहा गया।।२२।।

धूप छाया आदि को ही थूल-सूक्षम जानिये।
चतु इन्द्रिग्राही खंध सूक्षम-थूल हैं पहिचानिये।।२३।।

करम वरगण योग्य जो स्कंध वे सब सूक्ष्म हैं।
जो करम वरगण योग्य ना वे खंध ही अति सूक्ष्म हैं।।२४।।

जल आदि धातु चतुष्क हेतुक कारणाणु कहा है।
अर खंध के अवसान को ही कारयाणु कहा है।।२५।।

इन्द्रियों से ना ग्रहे अविभागि जो परमाणु है।
वह स्वयं ही है आदि एवं स्वयं ही मध्यान्त है।।२६।।

स्वभाव गुणमय अणु में इक रूप रस गंध फरस दो।
विभाव गुणमय खंध तो बस प्रगट इन्द्रिय ग्राह्य है।।२७।।

स्वभाविक पर्याय पर निरपेक्ष ही होती सदा।
पर विभाविक पर्याय तो स्कंध ही होता सदा।।२८।।

परमाणु पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है परमार्थ का।
स्कंध पुद्गल द्रव्य है ह्न यह कथन है व्यवहार का।।२९।।

सब द्रव्य के अवगाह में नभ जीव पुद्गल द्रव्य के।
गमन थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त हैं।।३०।।

समय आवलि भेद दो भूतादि तीन विकल्प हैं।
संस्थान से संख्यातगुण आवलि अतीत बखानिये।।३१।।

जीव एवं पुद्गलों से समय नंत गुणे कहे।
कालाणु लोकाकाश थित परमार्थ काल कहे गये।।३२।।

जीवादि के परिणमन में यह काल द्रव्य निमित्त है।
धर्म आदि चार की निजभाव गुण पर्याय है।।३३।।

बहुप्रदेशीपना ही है काय एवं काल बिन।
जीवादि अस्तिकाय हैं ह्न इस भांति जिनवर के वचन।।३४।।

होते अनंत असंख्य संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्य के।
होते असंख्य प्रदेश धर्माधर्म चेतन द्रव्य के।।३५।।

असंख्य लोकाकाश के एवं अनन्त अलोक के।
फिर भी अकायी काल का तो मात्र एक प्रदेश है।।३६।।

एक पुद्गल मूर्त द्रव्य अमूर्तिक हैं शेष सब।
एक चेतन जीव है पर हैं अचेतन शेष सब।।३७।।

(३)
शुद्धभावाधिकार

जीवादि जो बहितत्त्व हैं, वे हेय हैं कर्मोपधिज।
पर्याय से निरपेक्ष आतमराम ही आदेय है।।३८।।

अरे विभाव स्वभाव हर्षाहर्ष मानपमान के।
स्थान आतम में नहीं ये वचन हैं भगवान के।।३९।।

स्थिति अनुभाग बंध एवं प्रकृति परदेश के।
अर उदय के स्थान आतम में नहीं ह्न यह जानिये।।४०।।

इस जीव के क्षायिक क्षयोपशम और उपशम भाव के।
एवं उदयगत भाव के स्थान भी होते नहीं।।४१।।

चतुर्गति भव भ्रमण रोग रु शोक जन्म-जरा-मरण।
जीवमार्गणथान अर कुलयोनि ना हों जीव के।।४२।।

निर्दण्ड है निर्द्वन्द है यह निरालम्बी आतमा।
निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा।।४३।।

निर्ग्रन्थ है नीराग है नि:शल्य है निर्दोष है।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है।।४४।।

स्पर्श रस गंध वर्ण एवं संहनन संस्थान भी।
नर, नारि एवं नपुंसक लिंग जीव के होते नहीं।।४५।।

चैतन्यगुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अर्निदिष्ट अशब्द है।।४६।।

गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं।
हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी कहे।।४७।।

शुद्ध अविनाशी अतीन्द्रिय अदेह निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे जीव हैं भवलीन त्यों।।४८।।

व्यवहारनय से कहे हैं ये भाव सब इस जीव के।
पर शुद्धनय से सिद्धसम हैं जीव संसारी सभी।।४९।।

हैं हेय ये परभाव सब ही क्योंकि ये परद्रव्य हैं।
आदेय अन्तस्तत्त्व आतम क्योंकि वह स्वद्रव्य है।।५०।।

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
विभरम संशय मोह विरहित ज्ञान ही सद्ज्ञान है।।५१।।

चल मल अगाढ़पने रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।
आदेय हेय पदार्थ का ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।।५२।।

जिन सूत्र समकित हेतु पर जो सूत्र के ज्ञायक पुरुष।
वे अंतरंग निमित्त हैं दृग मोह क्षय के हेतु से।।५३।।

सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण है मुक्तिमग।
व्यवहार-निश्चय से अत: चारित्र की चर्चा करूँ।।५४।।

व्यवहारनय चारित्र में व्यवहारनय तपचरण हो।
नियतनय चारित्र में बस नियतनय तपचरण हो।।५५।।

(४)
व्यवहारचारित्राधिकार

कुल योनि जीवस्थान मार्गणथान जिय के जानकर।
उन्हीं के आरंभ से बचना अहिंसाव्रत कहा।।५६।।

मोह एवं राग-द्वेषज मृषा भाषण भाव को।
हैं त्यागते जो साधु उनके सत्यभाषण व्रत कहा।।५७।।

ग्राम में वन में नगर में देखकर परवस्तु जो।
उसके ग्रहण का भाव त्यागे तीसरा व्रत उसे हो।।५८।।

देख रमणी रूप वांछा भाव से निर्वृत्त हो।
या रहित मैथुनभाव से है वही चौथा व्रत अहो।।५९।।

निरपेक्ष भावों पूर्वक सब परिग्रहों का त्याग ही।
चारित्रधारी मुनिवरों का पाँचवाँ व्रत कहा है।।६०।।

जिन श्रमण धुरा प्रमाण भूलख चले प्रासुक मार्ग से।
दिन में करें विहार नित ही समिति ईर्या यह कही।।६१।।

परिहास चुगली और निन्दा तथा कर्कश बोलना।
यह त्यागना ही समिति दूजी स्व-पर हितकर बोलना।।६२।।

स्वयं करना कराना अनुमोदना से रहित जो।
निर्दोष प्रासुक भुक्ति ही है एषणा समिति अहो।।६३।।

पुस्तक कमण्डल संत जन नित सावधानीपूर्वक।
आदाननिक्षेपणसमिति में ग्रहण-निक्षेपण करें।।६४।।

प्रतिष्ठापन समिति में उस भूमि पर मल मूत्र का।
क्षेपण करें जो गूढ प्रासुक और हो अवरोध बिन।।६५।।

मोह राग द्वेष संज्ञा कलुषता के भाव जो।
इन सभी का परिहार मनगुप्ति कहा व्यवहार से।।६६।।

पापकारण राज दारा चोर भोजन की कथा।
मृषा भाषण त्याग लक्षण है वचन की गुप्ति का।।६७।।

मारन प्रसारन बंध छेदन और आकुंचन सभी।
कायिक क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति जिन कही।।६८।।

मनोगुप्ति हृदय से रागादि का मिटना अहा।
वचनगुप्ति मौन अथवा असत् न कहना कहा।।६९।।

दैहिक क्रिया की निर्वृत्ति तनगुप्ति कायोत्सर्ग है।
या निवृत्ति हिंसादि की ही कायगुप्ति जानना।।७०।।

अरिहंत केवलज्ञान आदि गुणों से संयुक्त हैं।
घनघाति कर्मों से रहित चौतीस अतिशय युक्त हैं।।७१।।

नष्ट कीने अष्ट विध विधि स्वयं में एकाग्र हो।
अष्ट गुण से सहित सिध थित हुए हैं लोकाग्र में।।७२।।

पंचेन्द्रिय गजमदगलन हरि मुनि धीर गुण गंभीर अर।
परिपूर्ण पंचाचार से आचार्य होते हैं सदा।।७३।।

रतन त्रय संयुक्त अर आकांक्षाओं से रहित।
तत्त्वार्थ के उपदेश में जो शूर वे पाठक मुनी।।७४।।

आराधना अनुरक्त नित व्यापार से भी मुक्त हैं।
जिनमार्ग में सब साधुजन निर्मोह हैं निर्ग्रन्थ हैं।।७५।।

इसतरह की भावना व्यवहार से चारित्र है।
अब कहूँगा मैं अरे निश्चयनयाश्रित चरण को।।७६।।

●●●

नियमसार कलश पद्यानुवाद

(हरिगीत)

जो मोह में मेरे सदृश हैं मुग्ध वश में काम के।
आपके होते हुए सुगतादि को मैं क्यों नमूँ?
वागीश गिरधर शिव सुगत कुछ भी कहो या न कहो।
जितभवी जिनवरदेव जो उनके चरण में मैं नमूँ।।१।।

(दोहा)

श्री जिनवर का मुखकमल जिसका वाहन दिव्य।
उभयनयों से वाच्य जो वह ध्वनि परम पवित्र।।२।।

(हरिगीत)

सिद्धान्तलक्ष्मी के पती श्री सिद्धसेन यतीन्द्र को।
तर्काम्बुजों के सूर्य श्री अकलंकदेव मुनीन्द्र को।।
शब्दसागर चन्द्रमा श्री पूज्यपाद यतीन्द्र को।
वन्दन करूँ कर जोड़कर श्री वीरनन्दि व्रतीन्द्र को।।३।।

(दोहा)

भव्यों का भव अन्त हो निज आतम की शुद्धि।
नियमसार की तात्पर्य वृत्ति कहूँ विशुद्ध।।४।।

गुणधर गणधर से रचित श्रुतधर की सन्तान।
परमागम का कथन हम कैसे करें बखान।।५।।

परमागम की पुष्ट रुचि प्रेरित करे अनल्प।
इसीलिये यह लिख रहे और न कोई विकल्प।।६।।

सात तत्त्व छह द्रव्य अर नवार्थ प्रत्याख्यान।
पाँचों अस्तीकाय का किया गया व्याख्यान।।७।।

(रोला)

शुद्धभाव से नाश किया है कामभाव का।
तीन लोक में पूज्य देवगण जिनको नमते।।
ज्ञान राज्य के राजा नाशक कर्मबीज के।
समोसरन के वासी जग में वीर जिनेश्वर।।८।।

कभी कामिनी रति सुख में यह रत रहता है।
कभी संपती की रक्षा में उलझा रहता।।
किन्तु जो पण्डितजन जिनपथ पा जाते हैं।
हो जाते वे मुक्त आत्मा में रत होकर।।९।।

विपर्यास से रहित अनुत्तम रत्नत्रय को।
पाकर मैं तो वरण करूँ अब शिवरमणी को।।
प्राप्त करूँ मैं निश्चय रत्नत्रय के बल से।
अरे अतीन्द्रिय अशरीरी आत्मीक सुक्ख को।।१०।।

रत्नत्रय की परिणति से परिणमित आतमा।
श्रमणजनों के लिए सहज यह मोक्षमार्ग है।।
दर्शन-ज्ञान-चरित आतम से भिन्न नहीं हैं।
जो जाने वह भव्य न जावे जननि उदर में।।११।।

(दोहा)

भवभयभेदक आप्त की भक्ति नहीं यदि रंच।
तो तू है मुख मगर के भवसागर के मध्य।।१२।।

(रोला)

शत इन्द्रों से पूज्य ज्ञान साम्राज्य अधपती।
कामजयी लौकान्तिक देवों के अधिनायक।।
पाप विनाशक भव्यनीरजों के तुम सूरज।
नेमीश्वर सुखभूमि सुक्ख दें भवभयनाशक।।१३।।

अलिगण स्वयं समा जाते ज्यों कमल पुष्प में।
त्यों ही लोकालोक लीन हों ज्ञान कमल में।।
जिनके उन श्री नेमिनाथ के चरण जजूँ मैं।
हो जाऊँ मैं पार भवोदधि निज भुजबल से।।१४।।

(हरिगीत)

मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं।
जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं।।
भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं।
मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं।।१५।।

(रोला)

जिनपति द्वारा कथित मार्गसागर में स्थित।
अरे तेज के पुंज विविध विध किरणों वाले।।
छह द्रव्यों रूपी रत्नों को तीक्ष्णबुद्धि जन।
धारण करके पा जाते हैं मुक्ति सुन्दरी।।१६।।

जिनपति द्वारा कथित ज्ञान के भेद जानकर।
परभावों को त्याग निजातम में रम जाते।।
कर प्रवेश चित्चमत्कार में वे मुमुक्षुगण।
अल्पकाल में पा जाते हैं मुक्तिसुन्दरी।।१७।।

इसप्रकार का भेदज्ञान पाकर जो भविजन।
भवसागर के मूलरूप जो सुक्ख-दुक्ख हैं।।
सुकृत-दुष्कृत होते जो उनके भी कारण।
उन्हें छोड़ वे शाश्वत सुख को पा जाते हैं।।१८।।

(दोहा)

करो उपेक्षा देह की परिग्रह का परिहार।
अव्याकुल चैतन्य को भावो भव्य विचार।।१९।।

(रोला)

यदि मोह का निर्मूलन अर विलय द्वेष का।
और शुभाशुभ रागभाव का प्रलय हो गया।।
तो पावन अतिश्रेष्ठज्ञान की ज्योति उदित हो।
भेदज्ञानरूपी तरु का यह फल मंगलमय।।२०।।

जिसकी विकसित सहजदशा अंतर्मुख जिसने।
तमोवृत्ति को नष्ट किया है निज ज्योति से।।
सहजभाव से लीन रहे चित् चमत्कार में।
सहजज्ञान जयवंत रहे सम्पूर्ण मोक्ष में।।२१।।

(सोरठा)

सहजज्ञान सर्वस्व शुद्ध चिदातम आतमा।
उसे जान अविलम्ब निर्विकल्प मैं हो रहा।।२२।।

(दोहा)

दर्शनज्ञानचरित्रमय चित् सामान्यस्वरूप।
मार्ग मुमुक्षुओं के लिए अन्य न कोई स्वरूप।।२३।।

(वीर)

परभावों के होने पर भी परभावों से भिन्न आतमा।
सहजगुणों की मणियों का निधि है सम्पूरण शुद्ध आत्मा।।
ज्ञानानंदी शुद्धातम को शुद्धदृष्टि से जो भजते हैं।
वही पुरुष सुखमय अविनाशी मुक्तिसुंदरी को वरते हैं।।२४।।

इसप्रकार गुणपर्यायों के होने पर भी कारण-आतम।
गहराई से राजमान है श्रेष्ठनरों के हृदयकमल में।।
स्वयं प्रतिष्ठित समयसारमय शुद्धात्म को हे भव्योत्तम।
अभी भज रहे अरे उसी को गहराई से भजो निरन्तर।।२५।।

(रोला)

सदा सहित होने पर भी जो सदा रहित है।
इन सबसे जो जीव उसी को मैं भाता हूँ।।
सब अर्थों की सिद्धि हेतु हे भविजन जानो।
सहज आतमाराम उसी को मैं ध्याता हूँ।।२६।।

बहुविभाव होने पर भी हैं शुद्धदृष्टि जो।
परमतत्त्व के अभ्यासी निष्णात पुरुष वे।।
'समयसार से अन्य नहीं है कुछ भी' ह्न ऐसा।
मान परमश्री मुक्तिवधू के वल्लभ होते।।२७।।

(वीर)

दैवयोग से मानुष भव में विद्याधर के भवनों में।
स्वर्गों में नरकों में अथवा नागपती के नगरों में।।
जिनमंदिर या अन्य जगह या ज्योतिषियों के भवनों में।
कहीं रहूँ पर भक्ति आपकी रहे निरंतर नजरों में।।२८।।

(रोला)

अरे देखकर नराधिपों का वैभव जड़मति।
क्यों पाते हो क्लेश पुण्य से यह मिलता है।।
पुण्य प्राप्त होता है जिनवर की पूजन से।
यदि हृदय में भक्ति स्वयं सब पा जाओगे।।२९।।

(दोहा)

परमगुरु की कृपा से मोही रागी जीव।
समयसार को जानकर शिव श्री लहे सदीव।।३०।।

भावकरम के रोध से द्रव्य करम का रोध।
द्रव्यकरम के रोध से हो संसार निरोध।।३१।।

(सोरठा)

करें शुभाशुभभाव, मुक्तिमार्ग जाने नहीं।
अशरण रहें सदीव मोह मुग्ध अज्ञानि जन।।३२।।

(दोहा)

कर्मजनित सुख त्यागकर निज में रमें सदीव।
परम अतीन्द्रिय सुख लहें वे निष्कर्मी जीव।।३३।।

हममें कोई विभाव न हमें न चिन्ता कोई।
शुद्धातम में मगन हम अन्योपाय न होई।।३४।।

(रोला)

संसारी के समलभाव पाये जाते हैं।
और सिद्ध जीवों के निर्मलभाव सदा हों।।
कहता यह व्यवहार किन्तु बुधजन का निर्णय।
निश्चय से शुद्धातम में न बंध-मोक्ष हों।।३५।।

जिन चरणों के प्रवर भक्त जिनसत्पुरुषों ने।
नयविभाग का नहीं किया हो कभी उल्लंघन।।
वे पाते हैं समयसार यह निश्चित जानो।
आवश्यक क्यों अन्य मतों का आलोड़न हो।।३६।।

(हरिगीत)

गलन से परमाणु पुद्गल खंध पूरणभाव से।
अर लोकयात्रा नहीं संभव बिना पुद्गल द्रव्य के।।३७।।

(दोहा)

पुद्गल में रति मत करो हे भव्योत्तम जीव।
निज में रति से तुम रहो शिवश्री संग सदैव।।३८।।

(वीर)

छह प्रकार के खंध और हैं चार भेद परमाणु के।
हमको क्या लेना-देना इन परमाणु-स्कंधों से।।
अक्षय सुखनिधि शुद्धातम जो उसे नित्य हम भाते हैं।
उसमें ही अपनापन करके बार-बार हम ध्याते हैं।।३९।।

(दोहा)

जब जड़ पुद्गल स्वयं में सदा रहे जयवंत।
सिद्धजीव चैतन्य में क्यों न रहे जयवंत।।४०।।

(दोहा)

वरणादि परमाणु में रहें न कारज सिद्धि।
माने भवि शुद्धात्म की करे भावना नित्य।।४१।।

जिसप्रकार जिननाथ के कामभाव न होय।
उस प्रकार परमाणु के शब्दोच्चार न होय।।४२।।

(हरिगीत)

जिनवरकथित सन्मार्ग से तत्त्वार्थ को पहिचान कर।
पररूप चेतन-अचेतन को पूर्णत: परित्याग कर।।
हे भव्यजन ! नित ही भजो तुम निर्विकल्प समाधि में।
निजरूप ज्ञानानन्दमय चित्चमत्कारी आत्म को।।४३।।

पुद्गल अचेतन जीव चेतन भाव अपरमभाव में।
निष्पन्न योगीजनों को ये भाव होते ही नहीं।।४४।।

जड़ देह में न द्वेष चेतन तत्त्व में भी राग ना।
शुद्धात्मसेवी यतिवरों की अवस्था निर्मोह हो।।४५।।

(दोहा)

धर्माधर्माकाश को द्रव्यरूप से जान।
भव्य सदा निज में बसो ये ही काम महान।।४६।।

समय निमिष काष्ठा कला घड़ी आदि के भेद।
इनसे उपजे काल यह रंच नहीं सन्देह।।
पर इससे क्या लाभ है शुद्ध निरंजन एक।
अनुपम अद्भुत आतमा में ही रहूँ हमेश।।४७।।

घट बनने में निमित्त है ज्यों कुम्हार का चक्र।
द्रव्यों के परिणमन में त्यों निमित्त यह द्रव्य।।
इसके बिन न कोई भी द्रव्य परिणमित होय।
इसकारण ही सिद्ध रे इसकी सत्ता होय।।४८।।

जिन आगम आधार से धर्माधर्माकाश।
जिय पुद्गल अर काल का होता है आभास।।४९।।

(त्रिभंगी)

जय भव भय भंजन, मुनि मन रंजन, भव्यजनों को हितकारी।
यह षट्द्रव्यों का, विशद विवेचन, सबको हो मंगलकारी।।५०।।

(हरिगीत)

आगम उदधि से सूरि ने जिनमार्ग की षट्द्रव्यमय।
यह रत्नमाला भव्यकण्ठाभरण गूँथी प्रीति से।।५१।।

मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा बढाने के लिए।
षट् द्रव्यरूपी रत्नों का मैंने बनाया आभरण।।
अरे इससे जानकर व्यवहारपथ को विज्ञजन।
परमार्थ को भी जानते हैं जान लो हे भव्यजन।।५२।।

जिस भव्य के मुख कमल में ये ललितपद वसते सदा।
उस तीक्ष्णबुद्धि पुरुष को शुद्धातमा की प्राप्ति हो।।
चित्त में उस पुरुष के शुद्धातमा नित ही वसे।
इस बात में आश्चर्य क्या यह तो सहज परिणमन है।।५३।।

(रोला)

सकलविलय से दूर पूर सुख सागर का जो।
क्लेशोदधि से पार शमित दुर्वारमार जो।।
शुद्धज्ञान अवतार दुरित तरु का कुठार जो।
समयसार जयवंत तत्त्व का एक सार जो।।५४।।

चिदानन्द से भरा हुआ नभ सम अकृत जो।
राग-द्वेष से रहित एक अविनाशी पद है।।
चैतन्यामृत पूर चतुर पुरुषों के गोचर।
आतम क्यों न रुचे करे भोगों की वांछा।।५५।।

(दोहा)

चिदानन्द निधियाँ बसें मुझमें नेकानेक।
विपदाओं का अपद मैं नित्य निरंजन एक।।५६।।

(वसंततिलका)

निज रूप से अति विलक्षण अफल फल जो।
तज सर्व कर्म विषवृक्षज विष-फलों को।।
जो भोगता सहजसुखमय आतमा को।
हो मुक्तिलाभ उसको संशय न इसमें।।५७।।

(दोहा)

विरहित ग्रंथ प्रपंच से पंचाचारी संत।
पंचमगति की प्राप्ति को पंचमभाव भजंत।।५८।।

(हरिगीत)

भोगियों के भोग के हैं मूल सब शुभकर्म जब।
तत्त्व के अभ्यास से निष्णातचित मुनिराज तब।।
मुक्त होने के लिए सब क्यों न छोड़ें कर्म शुभ।
क्यों ना भजें शुद्धातमा को प्राप्त जिससे सर्व सुख।।५९।।

(रोला)

रहे निरन्तर ज्ञानभावना निज आतम की।
जिनके वे नर भव विकल्प में नहीं उलझते।।
परपरिणति से दूर समाधि निर्विकल्प पा।
पा जाते हैं अनघ अनूपम निज आतम को।।६०।।

भक्तामर की मुकुट रत्नमाला से वंदित।
चरणकमल जिनके वे महावीर तीर्थंकर।।
का पावन उपदेश प्राप्त कर शीलपोत से।
संत भवोदधि तीर प्राप्त कर लेते सत्वर।।६१।।

परपरिणति से दूर और दुष्कर्म पार है।
अस्तमार दुर्वार पापवन का कुठार है।।
रक्षक हो मम रागोदधि का पूर पार जो।
सुखसागरजल निर्विकार है समयसार जो।।६२।।

बुधजन जिनको कहें कल्पनामात्र रम्य है
उन सुख-दुख से रहित नित्य जो निर्विकार है।
विविध विकल्प विहीन पद्मप्रभ मुनिवर मन में
जो संस्थित वह परमतत्त्व जयवंत रहे नित।।६३।।

सर्वतत्त्व में सार मगन जो निज परिणति में
सुखसागर में सदा खान जो गुण मणियों की।
उस आतम को भजो निरन्तर भव्यभाव से
भव्यभावना से प्रेरित हो भव्य आत्मन्।।६४।।

(दोहा)

भवभोगों से पराङ्गमुख भवदुखनाशन हेतु।
ध्रुव निज आतम को भजो अध्रुव से क्या हेतु।।६५।।

जन्म मृत्यु रोगादि से रहित अनाकुल आत्म।
अमृतमय अच्युत अमल मैं बंदूँ शुद्धात्म।।६६।।

सूत्रकार मुनिराज ने आतम दियो बताय।
उससे भवि मुक्ति लहें मैं पूजूँ मन लाय।।६७।।

(रोला)

ज्ञानरूप अक्षय विशाल निर्द्वन्द्व अनूपम
आदि-अन्त अर दोष रहित जो आत्मतत्त्व है।
उसको पाकर भव्य भवजनित भ्रम से छूटें
उसमें रमकर भव्य मुक्ति रमणी को पाते।।६८।।

(मनहरण कवित्त)

ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अंधकार का।
नाशक ध्रुव नित्य आनन्द का है धारक जो।।
अमूरतिक आतमा अत्यन्त अविचल।
स्वयं में ही उत्तम सुशील का है कारक जो।।
भवभयहरण पति मोक्षलक्ष्मी का अति।
ऐश्वर्यवान नित्य आतम विलासी जो।।
करता हूँ वंदना मैं आत्मदेव की सदा।
अलख अखण्ड पिण्ड चण्ड अविनाशी जो।।६९।।

(रोला)

अरे बंध हो अथवा न हो शुद्धजीव तो।
सदा भिन्न ही विविध मूर्त द्रव्यों से जानो।।
बुधपुरुषों से कहे हुए जिनदेव वचन इस।
परमसत्य को भव्य आतमा तुम पहिचानो।।७०।।

(दोहा)

पहले से ही शुद्धता जिनमें पाई जाय।
उन सुधिजन कुधिजनों में कुछ भी अंतर नाय।।
किस नय से अन्तर करूँ उनमें समझ न आय।
मैं पूँछूँ इस जगत से देवे कोई बताय।।७१।।

(हरिगीत)

शुद्ध है यह आतमा अथवा अशुद्ध इसे कहें।
अज्ञानि मिथ्यादृष्टि के ऐसे विकल्प सदा रहें।।
कार्य-कारण शुद्ध सारासारग्राही बुद्धि से।
जानते सद्दृष्टि उनकी वंदना हम नित करें।।७२।।

(सोरठा)

अन्तर नहिं है रंच, संसारी अर सिद्ध में।
बतलाते यह मर्म, शुद्धतत्त्व के रसिकजन।।७३।।

(सोरठा)

वे न हमारे भाव, शुद्धातम से अन्य जो।
ऐसे जिनके भाव, सिद्धि अपूरव वे लहें।।७४।।

(हरिगीत)

जयवंत है सद्बोध अर सद्दृष्टि भी जयवंत है।
अर चरण भी सुविशुद्ध जो वह भी सदा जयवंत है।।
अर पापपंकविहीन सहजानन्द आतमतत्त्व में।
ही जो रहे, वह चेतना भी तो सदा जयवंत है।।७५।।

त्रसघात के परिणाम तम के नाश का जो हेतु है।
और थावर प्राणियों के विविध वध से दूर है।।
आनन्द सागरपूर सुखप्रद प्राणियों को लोक के।
वह जैनदर्शन जगत में जयवंत वर्ते नित्य ही।।७६।।

जो पुरुष बोलें सत्य अति स्पष्ट वे सब स्वर्ग की।
देवांगनाओं के सुखों को भोगते भरपूर हैं।।
इस लोक में भी सज्जनों से पूज्य होते वे पुरुष।
इसलिए इस सत्य से बढकर न कोई व्रत कहा।।७७।।

अचौर्यव्रत इस लोक में धन सम्पदा का हेतु है।
परलोक में देवांगनाओं के सुखों का हेतु है।।
शुद्ध एवं सहज निर्मल परिणति के संग से।
परम्परा से मुक्तिवधु का हेतु भी कहते इसे।।७८।।

कामी पुरुष यदि तू सदा ही कामनी की देह के।
सौन्दर्य के संबंध में ही सोचता है निरन्तर।।
तेरे लिये मेरे वचन किस काम के किस हेतु से।
निज रूप को तज मोह में तू फंस रहा है निरन्तर।।७९।।

हे भव्यजन ! भवभीरुता बस परिग्रह को छोड़ दो।
परमार्थ सुख के लिए निज में अचलता धारण करो।।
जो जगतजन को महादुर्लभ किन्तु सज्जन जनों को।
आश्चर्यकारी है नहीं आश्चर्य दुर्जन जनों को।।८०।।

मुक्तिकान्ता की सखी जो समिति उसको जानकर।
जो संत कंचन-कामिनी के संग को परित्याग कर।।
चैतन्य में ही रमण करते नित्य निर्मल भाव से।
विलग जग से निजविहारी मुक्त ही हैं संत वे।।८१।।

जयवंत है यह समिति जो त्रस और थावर घात से।
संसारदावानल भयंकर क्लेश से अतिदूर है।।
मुनिजनों के शील की है मूल धोती पाप को।
यह मेघमाला सींचती जो पुण्यरूप अनाज को।।८२।।

समिति विरहित काम रोगी जनों का दुर्भाग्य यह।
संसार-सागर में निरंतर जन्मते-मरते रहें।।
हे मुनिजनो ! तुम हृदयघर में सावधानी पूर्वक।
जगह समुचित सदा रखना मुक्ति कन्या के लिए।।८३।।

(दोहा)

जो पाले निश्चय समिति, निश्चित मुक्ति जाँहि।
समिति भ्रष्ट तो नियम से भटकें भव के माँहि।।८४।।
आत्मनिरत मुनिवरों के अन्तर्जल्प विरक्ति।
तब फिर क्यों होगी अरे बहिर्जल्प अनुरक्ति।।८५।।

(हरिगीत)

भक्त के हस्ताग्र से परिशुद्ध भोजन प्राप्त कर।
परिपूर्ण ज्ञान प्रकाशमय निज आत्मा का ध्यान धर।।
इसतरह तप तप तपस्वी निरन्तर निज में मगन।
मुक्तिरूपी अंगना को प्राप्त करते संतजन।।८६।।

उत्तम परमजिन मुनि के सुख-शान्ति अर मैत्री सहित।
आदाननिक्षेपण समिति सब समितियों में शोभती ।।
हे भव्यजन ! तुम सदा ही इस समिति को धारण करो।
जिससे तुम्हें भी प्राप्त हो प्रियतम परम श्री कामिनी ।।८७ ।।

आत्मचिंतन में परायण और जिनमत में कुशल।
उन यतिवरों को यह समिति है मूल शिव साम्राज्य की ।।
कामबाणों से विंधे हैं हृदय जिनके अरे उन।
मुनिवरों के यह समिति तो हमें दिखती ही नहीं ।।८८।।

(रोला)

दीक्षाकान्तासखी परमप्रिय मुक्तिरमा को।
भवतपनाशक चन्द्रप्रभसम श्रेष्ठ समिति जो ।।
उसे जानकर हे मुनि तुम जिनमत प्रतिपादित।
तप से होनेवाले फल को प्राप्त करोगे ।।८९।।

(दोहा)

समिति सहित मुनिवरों को उत्तम फल अविलम्ब।
केवल सौख्य सुधामयी अकथित और अचिन्त्य ।।९०।।

(रोला)

जो जिनेन्द्र के चरणों को स्मरण करे नित।
बाह्य और आन्तरिक ग्रंथ से सदा रहित हैं ।।
परमागम के अर्थों में मन चिन्तन रत है।
उन जितेन्द्रियों के तो गुप्ति सदा ही होगी ।।९१।।

भवभयकारी वाणी तज शुध सहज विलसते।
एकमात्र कर ध्यान नित्य चित् चमत्कार का ।।
पापतिमिर का नाश सहज महिमा निजसुख की।
मुक्तिपुरी को प्राप्त करें भविजीव निरन्तर ।।९२।।

(दोहा)

जो ध्यावे शुद्धात्मा तज कर काय विकार।
जन्म सफल है उसी का शेष सभी संसार ।।९३ ।।

(हरिगीत)

अप्रशस्त और प्रशस्त सब मनवचन के समुदाय को।
तज आत्मनिष्ठा में चतुर पापाटवी दाहक मुनी ।।
चिन्मात्र चिन्तामणि शुद्धाशुद्ध विरहित प्राप्त कर।
अनंतदर्शनज्ञानसुखमय मुक्ति की प्राप्ति करें ।।९४।।

(दोहा)

परिस्पन्दमय देह यह मैं हूँ अपरिस्पन्द।
यह मेरी ह्न व्यवहार यह तजू इसे अविलम्ब ।।९५ ।।

(हरिगीत)

विकसित कमलवत नेत्र पुण्य निवास जिनका गोत्र है।
हैं पण्डिताम्बुज सूर्य मुनिजन विपिन चैत्र वसंत हैं ।।
जो कर्मसेना शत्रु जिनका सर्वहितकर चरित है।
वे सुत सुसीमा पद्मप्रभजिन विदित तन सर्वत्र हैं ।।९६।।

जो गुणों के समुदाय एवं पुण्य कमलों के रवि।
कामना के कल्पतरु अर कामगज को केशरी ।।
देवेन्द्र जिनको नमें वे जयवन्त श्री जिनराजजी।
हे कर्मतरु के बीजनाशक तजा भव तरु आपने ।।९७।।

दुष्कर्म के यमराज जीता काम शर को आपने।
राजेन्द्र चरणों में नमें रिपु क्रोध जीता आपने ।।
सर्वविद्याप्रकाशक भवताप नाशक आप हो।
श्रीपद्म जिन जयवंत जिनको सदा विद्वद्जन नमें ।।९८।।

पद्मपत्रों सम नयन दुष्कर्म से जो पार हैं।
दक्ष हैं विज्ञान में अर यक्षगण जिनको नमें ।।
बुधजनों के गुरु एवं मुक्ति जिनकी विदित है।
कामनाशक पद्मप्रभजिन जगत में जयवंत हैं ।।९९।।

मदनगज को वज्रधर पर मदन सम सौन्दर्य है।
मुनिगण नमें नित चरण में यमराज नाशक शौर्य है ।।
पापवन को अनल जिनकी कीर्ति दशदिश व्याप्त है।
जगतपति जिन पद्मप्रभ नित जगत में जयवंत हैं ।।१००।।

(दोहा)

निश्चय से निज में रहें नित्य सिद्ध भगवान।
तीन लोक चूडामणी यह व्यवहार बखान।।१०१।।

(वीर)

देहमुक्त लोकाग्र शिखर पर रहे नित्य अन्तर्यामी।
अष्ट कर्म तो नष्ट किये पर मुक्ति सुन्दरी के स्वामी।।
सर्व दोष से मुक्त हुए पर सर्वसिद्धि के हैं दातार।
सर्वसिद्धि की प्राप्ति हेतु मैं करूँ वन्दना बारंबार।।१०२।।

(दोहा)

जो स्वरूप में थिर रहे शुद्ध अष्ट गुणवान।
नष्ट किये विधि अष्ट जिन नमों सिद्ध भगवान।।१०३।।

(हरिगीत)

सब इन्द्रियों के सहारे से रहित आकुलता रहित।
स्वहित में नित हैं निरत मैत्री दया दम के धनी।।
मुक्ति के जो हेतु शम, दम, नियम के आवास जो।
उन चन्द्रकीर्ति महामुनि का हृदय वंदन योग्य है।।१०४।।

(दोहा)

वंदे बारम्बार हम भव्यकमल के सूर्य।
उपदेशक तत्त्वार्थ के उपाध्याय वैडूर्य।।१०५।।

भव सुख से जो विमुख हैं सर्व संग से मुक्त।
उनका मन अभिवंद्य है जो निज में अनुरक्त।।१०६।।

(अडिल्ल)

आत्मरमणतारूप चरण ही शील है।
निश्चय का यह कथन शील शिवमूल है।।
शुभाचरण मय चरण परम्परा हेतु है।
सूरिवचन यह सदा धर्म का मूल है।।१०७।।

●●●